परमानन्दस्तोत्र प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहजानन्द शास्त्रमाला

परमानन्दस्तोत्र प्रवचन

रचयिता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

सम्पादक—
सुमेरचंद जैन
१५ प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रति १०००
सन् १९७७

सम्पादकीय

परमानन्द स्तोत्र एक आध्यात्मिक स्तोत्र है। इसमें अविकारस्वभावी सहजपरमानन्दमय चिद्ब्रह्मका स्तवन किया गया है। यह चिद्ब्रह्म अपने देहमें एकक्षेत्रावगाही आत्मद्रव्यमें अन्तःप्रकाशमान है। इसकी दृष्टि व अनुभूति हुए बिना यह जीव न तो कर्मबन्धनसे छुटकारा पा सकता है और न संसार-सागरसे तिर सकता है। अतः कारणसमयसारस्वरूप चिद्ब्रह्म का परिचय पाना मोक्षमार्ग पानेके लिये अनिवारित आवश्यक है। इसी चिद्ब्रह्मके स्वरूप लक्षण दर्शनोपाय आदिका वर्णन इस स्तोत्रमें किया गया है।

यह चिद्ब्रह्म कर्म नोकर्म विकार आदि पर व परभावोंसे परे है। इसका वास्तविक दर्शन होनेके समय विकल्प विलीन हो जाते हैं और तब सहज आत्मीय परम आनन्द प्रकट हो जाता है। ध्यानोंमें उत्तम ध्यान यही है कि उपयोग अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण सहज चित्प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व में बना रहे।

अध्यात्मयोगी गुरुवर्य पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णीने परमानन्द स्तोत्रका प्रवचन करके जनताको शान्तिका सुगम मार्ग बताया है। इसके अतिरिक्त ऐसे ही ५०० ग्रन्थोंका निर्माण किया, एतदर्थ समाज आभार ऋणी रहेगा। आशा है जिज्ञासु जन सहजानन्द-साहित्यसे आत्मलाभ प्राप्त करेंगे।

१५ प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

सुमेरचंद जैन

परमानन्दस्तोत्र प्रवचन

रचयिता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

परमानन्दसंयुक्तं निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यंति निजदेहे व्यवस्थितम् ॥ १ ॥

(१) शान्तिके अर्थ सहजज्ञानान्दस्वरूप आत्मतत्त्वके परिचय की अनिवार्यता—

सभी मनुष्य शान्ति चाहते हैं और शान्तिके लिए ही सारा प्रयत्न करते हैं, फिर भी शान्ति नहीं मिलती। और यह शिकायत बनाये रहते हैं कि जीवन अशान्त है। बच्चे हुए, जवान हुए, बूढ़े हुए, सभी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि हमें शान्ति नहीं है। सो सही बात है। शान्तिका उपाय दूसरा है और अशान्तिका कारण दूसरा है। यदि इन कारणों को संक्षेपमें कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि ज्ञान अपने आपके आत्माको जाननेमें लगा हो तब तो शान्ति होती है और यह ज्ञान जब बाहरी पदार्थोंको जाननेमें, उनके प्रेममें लगा हो तो वहाँ अशान्ति होती है। तो अशान्तिका यह

कारण सभी मनुष्योंमें पाया जा रहा है। परिजन, मित्रजन, इज्जत, शरीर, सम्पदा आदि इन बाहरी पदार्थोंकी ओर ही दृष्टि लगी है, और यह निश्चित है कि बाहरी पदार्थोंकी ओर दृष्टि लगी रहेगी तो शान्ति नाममात्रको भी नहीं हो सकती। इससे यह जरूरी है कि अपने आपके आत्माके ज्ञानका प्रयत्न करें। यह प्रयत्न स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। यह तो ज्ञान-साध्य बात है। ऐसा आत्मज्ञान करनेके लायक साधन सबके पाया जा रहा है। मन मिला, पञ्चेन्द्रियाँ हैं, ज्ञान भी विशेष प्रकारका है, बुद्धि भी अच्छी है, तर्कणाशक्ति है। इन सब चीजोंके मिलनेपर भी यदि आत्माके ज्ञानकी ओर यत्न न किया जाय और अपनी कलाओंका प्रयोग केवल बाहरी विज्ञानकी ओर ही किया जाय तो समझना चाहिए कि हम जीवनके क्षण व्यर्थ खो रहे हैं। शान्ति यदि चाहिए तो अपने आत्माका ज्ञान करना होगा।

आत्माके बारेमें यद्यपि सभी लोग थोड़ा-थोड़ा बखान करते हैं। छोटेसे लेकर बड़े तक सभी पुरुष आत्माके बारेमें कुछ न कुछ बोलते हैं। कोई कहते हैं कि जीव ईश्वरके द्वारा बनाया गया, ईश्वर मुझे सुख दुःख देता, इस रूपमें अपनी सत्ता मानते हैं। तो कोई लोग मानते हैं कि यह देह है सो मैं हूं, मैं दुर्बल होता हूं, सबल होता हूं····यों इस देहको ही अपना सब कुछ मानते है। आत्माके बारेमें दार्शनिक लोग

अपनी दार्शनिक दृष्टिसे चर्चा करते हैं। तो मानते तो सभी लोग हैं आत्माको। लेकिन आत्माका जो सहज सत्य स्वरूप है उस स्वरूपकी ओर दृष्टि हो तो आत्माका जानना सही कहलायगा। यदि सहज सत्य स्वरूपमें अपने आत्माको परख लिया तो वहाँ अशान्ति नहीं रह सकती। शान्तिके लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किए जाते, लेकिन शान्तिका जो सही प्रयत्न है उस प्रयत्नकी ओर दृष्टि करनी चाहिए। विश्रामसे बैठे ही बिना परिश्रमके स्वयं सहज ही आत्मपरिचय प्राप्त हो जाता है।

(२) निजदेहमें व्यवस्थित परमात्मतत्त्वके दर्शनकी युक्ति—

आत्मा किस प्रकार है, कहाँ विराजमान है ? इसके सम्बन्धमें यहाँ वर्णन किया गया है कि यह आत्मा तो अपने देहमें ही मौजूद है, पर जो ध्यानहीन पुरुष है, अपने आत्मा की ओर जो ध्यान नहीं दे रहा है वह इसे नहीं देख सकता और जिसका ध्यान अपने आपकी ओर है, अपने स्वरूपका सत्य परिज्ञान है वह उसे देख लेता है। तो अपने देहमें रह रहा है यह अपना आतमा, जिसका सच्चा ज्ञान करनेसे शान्ति मिलती है। शान्तिका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि ममता हटे तो शान्ति मिलती है। मनुष्य जितने भी दुःखी हो रहे हैं वे किसी न किसी चीजकी ममतासे दुःखी हो रहे हैं। घरकी ममता, परिवारकी ममता, इज्जतकी ममता····,

कोई न कोई ममता लगी हुई है, इस कारण दुःखी हो रहे हैं। तो दुःख दूर करना है तो यह कर्तव्य हो जाता है कि उस ममताको समाप्त करें। कोई कहे कि ममता खतम हो जाय तो फिर हम रहेंगे कहाँ? सो ऐसी बात कहना योग्य नहीं है। ममता न रहे, फिर भी अच्छी तरह रहना बनेगा।

जैसे हम बाहरी पदार्थोंको जो जैसा है वैसा जानते हैं—चौकी है, तख्त है, पुस्तक है। तो जो चीज है उसे जब हम जान जाते, तो आत्मा भी एक चीज है, वस्तु है, वह जिस प्रकार है उस प्रकारसे जान जाये तो इसमें क्या असुविधा आयेगी? बल्कि आत्माको जान लेनेपर तो और भली प्रकार अपना जीवन चलता। हां इतनी बात जरूर है कि जिसकी ममता टूट गयी, और साथ ही रागद्वेष भी टूट जाय तो वह घरमें न रहेगा, वह साधु होकर केवल आत्माके ध्यान के लिए ही अपना जीवन लगायेगा। लेकिन एक ऐसी दशा होती है कि ममता तो न रही, पर रागद्वेष रह रहे, इसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि ज्ञानी गृहस्थ। घरमें रह रहा है, सम्यक्त्व हो गया, ज्ञान उत्पन्न हो गया, पर घरमें इस कारण रह रहा कि उसने मन व शरीरकी शक्तिको तौला। अपने मनके वेगसे हम गृहस्थी त्यागकर धर्मसाधना कर न सकेंगे। तो गृहस्थीमें रहते हुए वह गृहस्थधर्मके अनुरूप धर्म करता है।

जैसे संकल्पी हिंसा न करना, किसी जीवसे बैर न

रखना, असत्य न बोलना चोरी न करना और परस्त्री या परपुरुषपर दृष्टि न रखना और परिग्रहमें कषाय लोभ न बनाये रखना, ये सब बातें गृहस्थ तो कर ही सकते हैं। गृहस्थ अगर किसी जीवको न मारे, संकल्पीहिंसा त्याग दे तो उसको कौनसी बाधा है और उसका जीवन पवित्र बनेगा। कोई झूठ नहीं बोलता तो उससे इसको कैसे बाधा? बहुतसे लोगोंकी झूठ बोलनेकी आदत होती है, पर उनके झूठ न बोलनेसे जीवन नहीं चलता क्या? चोरी न करें तो उससे गृहस्थी नहीं निभती क्या? और परपुरुष या परस्त्रीके प्रति हृदयमें कोई विकार न रखे तो क्या गृहस्थी न निभेगी? तो इन पापोंके एक देश त्यागनेमें जीवन अच्छा गुजरता है। सो ज्ञानी जीव ऐसे व्रत संयम भावसहित घरमें रहता है और ममता उसके बिल्कुल न रहे, यह बात सम्भव है। लोग ममता और रागमें भेद नहीं कर पाते। ममता उसे कहते हैं कि किसी दूसरे पदार्थको मानना कि इससे मेरा सम्बन्ध है या यही मैं हूं, ये बाहरी पदार्थ न हों तो मेरा गुजारा नहीं, मेरा साथ न रहेगा, तो इस भूलका नाम है ममता। जान लिया कि शरीर-शरीर है, जीव-जीव है, अन्य पदार्थ अन्य है, और जैसा है वैसा जान लिया तो उसे कहेंगे कि इसको अब ममता नहीं रही। तो वही पुरुष जो ममतारहित है, आत्माका जिसके ज्ञान हुआ है और आत्माके ध्यानमें लग रहा है वह

पुरुष अपने देहमें रहता हुआ अपने ही देहमें व्यवस्थित आत्मा को, परमात्माको देख लेता है।

(३) आराध्य आत्मतत्त्वकी परमानन्दसंयुक्तता—

देहमें व्यवस्थित कैसा है वह आत्मा ? उत्कृष्ट आनंद से संयुक्त है। संसारी जीव चिल्लाते रहते हैं कि मेरेमें आनन्द नहीं है, हम बड़े दुःखी हैं और प्रभु यह बतला रहे हैं कि तेरे में आनन्द ही आनन्द भरा है, दुःख तो है ही नहीं। कोई पदार्थ होता है तो उसका निजी स्वरूप होता है। जैसे चौकी है तो इसका जो काठ है, इसकी जो बात है वह इसकी विशेषता है। तो ऐसे ही आत्मा है तो उसकी कोई विशेषता है। किस चीजसे बनी है, क्या उसमें स्वरूप है, क्या उसका आधार है ? तो आधार है, स्वरूप है, स्वभाव है ज्ञान और आनन्द। आत्मा क्या चीज है ? ज्ञानभाव और आनन्दभाव। जो पदार्थ है उसीको आत्मा कहते हैं। लोग तो चिल्लाते हैं कि मेरेको आनन्द नहीं, और भगवान यह बताते हैं कि आत्मामें तो आनन्द ही भरा हुआ है, और दुःख तो बना करके मोल लेते हैं। सम्बंध नहीं किसी भी अन्य पदार्थसे उसका, और मान लिया कि यही मेरा सब कुछ है, बस ऐसा भाव किया और आनन्द गायब हो गया।

तो आत्मा तो उत्कृष्ट आनन्दसे ही संयुक्त है। जैसे ज्ञान आत्माका स्वरूप है, ज्ञान न हो तो आत्मा क्या कहला-

यगा ? हाँ यह बात और है कि जब यह उपाधिसहित है, कर्मसहित है और विकट कर्म लगे हैं तो यह सच्चे ज्ञानमें न रहेगा, मिथ्या ज्ञानमें आ जायगा, विपरीत बुद्धि बनेगी, मगर ज्ञानकी ही वह सब कला है, ज्ञानके ही वे सब परिणमन हैं। तो जैसे ज्ञान आत्माका स्वरूप है, इसी प्रकार आनन्द भी आत्माका स्वरूप है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जब ज्ञान लगा है जीवके तो इसका आनन्द दुःखरूप परिणम गया, सुखरूप परिणम गया, क्लेशरूप बन गया, मगर आनन्द गुण ही तो इस प्रकार बन गया। तो अपनेमें निरखना चाहिए कि मेरे स्वरूपमें तो आनन्द ही आनन्द बसा हुआ है।

तो जो परम आनन्दसे संयुक्त है, ऐसा यह परमात्मा तत्त्व मेरे ही देहमें स्थित है, पर जो ध्यानी पुरुष हैं वे ही उसे निरख पाते हैं। जिनको आत्माका बोध है और बाहरी संकल्प-विकल्प नहीं सता रहे हैं वे भली भाँति अपने आत्मामें बसे हुए परमात्मतत्त्वको देख लेते हैं। प्रायः सभी लोग कहते हैं कि घट-घटमें भगवान बसा है, सब जीवोंके भीतर भगवान बसा है, मगर वह भगवान किस तरह बसा है, क्यों बसा है ? इस रहस्यको बिरले ही लोग जानते हैं। लोग तो इस तरह सोचते हैं कि कोई एक दुनियामें भगवान है और वह सब जगह फैला हुआ है और वही एक भगवान सबके भीतर बसा हुआ है, पर ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो फिर यह कहना

चाहिए कि भगवानका थोड़ा हिस्सा इसमें है और थोड़ा इसमें बसा है। भगवान तो एक है और वह फैला हुआ है, और जहाँ फैला है, जहाँ आकाश है वहीं हम हैं। इस तरह जहाँ भगवान एक फैला हुआ है वहीं हम है। तो इस तरह हममें भगवान न कहलाया। भगवान एक मौजूद है, जैसे आकाश है ऐसे रह गए तो इस तरह भगवान नहीं हममें मौजूद, किन्तु हमारा जो स्वरूप है वह स्वरूप भगवानके ही समान है। जैसे भगवानमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति मौजूद है उस तरहका ज्ञान आनन्द आदिक हममें भी मौजूद है। तो स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो हम पूरे ही भगवान हैं, हम कोई हिस्सेमें नहीं रह रहे हैं और जब अज्ञान छाया है तो हम पूरे ही भगवान ढके हुए हैं। तो मैं परम आनन्दसे संयुक्त हूं इस प्रकार अपनेमें ध्यान करें।

(४) आराध्य आत्मतत्त्वकी निर्विकारता व निरामयता—

मेरा स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। जहाँ किसी भी प्रकारका क्लेश नहीं है। मेरेमें विकार नहीं है। जब स्वभाव की दृष्टि करते हैं तो विकारोंके कारण तो मेरा सत्त्व नहीं है। विकार तो औपाधिक चीज है। जैसे एक दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो उसमें हाथ झलक गया तो दर्पणमें जो हाथकी छाया है वह दर्पणके स्वरूपकी चीज नहीं है। हाथ हटाया तो छाया खतम। इसी तरह आत्मामें जो रागद्वेष सुख दुःख आदिक आते हैं वह सब कर्मोंकी छाया है। यों कहो कि कर्म

उदयमें आते हैं तो आत्मामें इस तरहकी परिणतियाँ होती हैं। कर्मविपाक नहीं रहता तो यह दुःख भी नहीं रहता। तो दुःख मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो आनन्द है। तो ऐसा उत्कृष्ट आनन्द संयुक्त यह मैं आत्मतत्त्व हूं। जब अपने आत्माका स्वरूप दृष्टिमें देखा जा रहा है तो भली-भाँति यह मालूम पड़ जायगा कि मेरेमें कोई विकार नहीं।

यद्यपि यह वर्तमान जगत विकारका ही फल है। यहीं देख लो—रागद्वेष मोह विचार आदि कितने-कितने विकार बने हुए हैं। इतनेपर भी विकार इस आत्माके स्वभाव में नहीं हैं। जैसे दर्पणके स्वभावमें हाथका प्रतिबिम्ब नहीं है। हाथ सामने कर लिया तो प्रतिबिम्ब आ गया, इसी तरह आत्मामें किसी भी प्रकारका विकार आनेका स्वभाव नहीं है। कोई कर्मउपाधि आयी तो विकार बन गया, पर हूं मैं स्वरूपतः विकाररहित। देखो—जब अपने आत्मामें भगवानके दर्शन करने हों तो सब व्यवहारकी, रूढ़िकी बातें भूल जानी पड़ेंगी। इनको चित्तमें रखे रहें और भगवानके दर्शन हों सो नहीं हो सकता।

(५) स्वयंको विकाररहित माननेपर ही प्रभुके दर्शनकी प्राप्ति—

समस्त बाह्य पदार्थोंको चित्तसे निकाल दें और केवल ऐसा ही देखें कि मैं तो केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं, ज्ञानभाव

मात्र हूं, ऐसा ध्यान बन जाय और ऐसा विशाल ध्यान बने कि जहाँ बाहरी कोई विकल्प न रहे तो ज्ञानस्वभावके दर्शन अनुभव होते हैं। ऐसा यह मैं सहज आत्मा विकाररहित हूं। मेरेमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं है। यह मैं आत्मा निरामय हूं, मेरेमें कोई रोग नहीं है। रोग आता है शरीर में। फोड़ा-फुंसी, बुखार आदिक अनेक प्रकारके रोग ये जैसे आकाशमें तो नहीं हो सकते। तो आकाशकी तरह अमूर्त यह मैं आत्मा हूं। तो मुझ आत्मामें भी यह रोग नहीं हो सकता। मैं इन सब रोगोंसे रहित हूं, ऐसा यह मैं परम पवित्र ज्ञान-ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व हूं सो अपने इस देहमें व्यवस्थित हूं। कहीं बाहर नहीं निरखना है, और देहमें भी नहीं निरखना है। देहको तो भूल जाना है और आत्मामें आत्माको निरखना है तब यह परमात्मप्रभु दृष्टिमें आयगा। ऐसे इस परम आनन्दस्वरूपको ध्यानहीन पुरुष नहीं देख पाते।

अनन्तसुखसम्पन्नं ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं दर्शनं परमात्मनः ॥ २ ॥

(६) आत्माका वास्तविक बड़प्पन—

निज देहमें व्यवस्थित जो यह परमात्मस्वरूप है सो किस प्रकारका है, इसका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया है। यह परम आनन्द संयुक्त आत्मतत्त्व अनन्तसुखसे सम्पन्न है। प्रभु किसे कहते हैं? जिसके अनन्त ज्ञान हो, अनन्त दर्शन

हो, अनन्तशक्ति हो और अनन्तआनन्द हो। ऐसा जो पवित्र आत्मा है उसे भगवान कहते हैं। तो यह भगवान बना कौन? यही आत्मा। जो पहिले हम लोगोंकी भाँति संसारमें जन्म मरणके चक्रमें रहा करता था और जब कभी अपने स्वरूपके सम्हाल लेनेसे इसके सम्यग्दर्शन जगा और सम्यग्ज्ञान हुआ, फिर सर्व बाह्य आरम्भ परिग्रहोंको त्यागकर एक अपने आत्मा के ही ध्यानमें रत रहा तो वह पुरुष कर्मोंको काटकर केवली भगवान बना। तो जो कुछ भी बनाया जाता है वह वस्तुमें पहिलेसे ही रहता है। जैसे मिट्टीसे घड़ा, सकोरा आदिक कितनी ही चीजें बनीं तो उस मिट्टीमें बननेकी बात है, शक्ति है तब तो बने ना। तो ऐसे ही आत्मामें वह ज्ञान आनन्द सब कुछ भरा हो तब तो ये प्रकट होते हैं और भगवान बनते हैं। लोग अपने बारेमें सोचते हैं कि मैं ऐसा महान् बन जाऊँ, लोकपूज्य बन जाऊँ, लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँ और ऐसा बननेके लिए वे नाना प्रकारको अपनी कषायोंका प्रयत्न भी करते हैं। लेकिन सोचना यह चाहिए कि दुनियामें महान् होता कौन है? हमें कैसा बड़ा बनना चाहिए? जैसे कि प्रभु हैं, जिनके रागद्वेष नहीं, ज्ञान आनन्द परिपूर्ण है, ऐसा बनूँ तो महान् कहलाऊंगा और लोकमें कोई झूठ ही महान् बन गया, कुछ लोगोंने बड़ा मान लिया, बड़ा कहलाने लगे, धनमें बडा, अधिकारमें बड़ा या अन्य किसी भी चीजमें बड़ा मानने लगे तो वह बड़प्पन कब तक रहेगा? तो

लौकिक बड़प्पन बहुत दिनों तक नहीं टिकता और मरण हो जानेपर तो जैसा भाव बनाया, जैसे कर्म बाँधा उस प्रकारकी दशा बनती है। तो इस बड़प्पनको न चाहें, किन्तु उस प्रभु जैसे वीतराग सर्वज्ञ बन जायें जिससे कि सारे संकट दूर हो सकें ऐसा बड़ा बननेकी बात सोचनी चाहिए।

(७) परमात्मतत्त्वकी ज्ञानामृतपरिपूर्णता—

प्रभु जैसा बड़ा बननेका उपाय सर्वप्रथम भेदविज्ञान है। देह जुदा है, मैं जुदा हूं, पहिले तो इसकी समझ हो। देह जड़ है, मैं चेतन हूं। देहमें रूप रंग है, मुझमें रूप रंग नहीं। देह किसीके पकड़े पकड़ा जा सकता है, पर आत्माको कोई पकड़ नहीं सकता। यद्यपि जब तक शरीरमें रह रहे हैं तब तक आत्मा शरीरके बन्धनमें है। शरीरके साथ-साथ आत्मा भी बँधा फिरता है, लेकिन किसीने देहको पकड़ा तो उससे कहीं आत्मा पकड़में नहीं आया। तो ऐसा यह आत्मा अनन्त सुखसे सम्पन्न है। अगर अपने स्वरूपकी तरफ दृष्टि जाय तो इसको दुःख नहीं रह सकता। दुःख तब होता है जब बाहरमें कोई कल्पना गई हो। तो आत्मा ज्ञानामृत समुद्र है। अमृत क्या है? ज्ञान। जैसे लोग कहते हैं कि अमृतका पान कर लो, अमृत फल खा लो तो अमर हो जाओ, पर दुनियामें अमृत फल कहीं नहीं है और न अमृत जल कहीं भरा हुआ है। इस ज्ञानका ही नाम अमृत है। जैसा मेरे आत्माका स्वरूप है वैसा

ही ज्ञानमें आ जाय यही अमृत है। और ऐसा ज्ञान जिसके बन गया वह अपनेको अमर समझने लगा, सुखी समझने लगा, उसके संकट न रहे। यों यह आत्मा ज्ञानामृतका सागर है। ज्ञान ही ज्ञान इसके स्वरूपमें बसा हुआ है, और अनन्त शक्तियोंसे सहित है, ऐसा यह परमात्माका स्वरूप है। ऐसा परमात्माका स्वरूप अपने देहमें अवस्थित है, उसको ध्यानहीन पुरुष नहीं देख पाते, और जिसका मायाजालमें चित्त नहीं बसा है, स्वतन्त्र है, अपने आपको जिसने निराला परख लिया है वह जब अपना ध्यान लगाता है तब इस देहमें इस व्यवस्थित परमात्मतत्त्वका अनुभव करता है। जिस अनुभवके साथ इसके परम आनन्द जागृत होता है और उस आनन्दका अनुभव करनेपर फिर जगतकी सारी माया इसे असार प्रतीत होती है। जिस पुरुषको यह माया सारभूत लग रही हो वह चाहे कि मुझे शान्ति मिल जाय तो यह कैसे हो सकता है? मायासे निराले अपने आपको तकना होगा तब इसे शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

(८) बाह्य पदार्थोंसे छुटकारा पानेपर ही शान्तिलाभ—

तो शान्तिलाभके लिए आवश्यक है कि हम बाहरी पदार्थोंसे दृष्टि हटा लें। परम आनन्दसे सम्पन्न अनन्तसुखसे भरे हुए ज्ञानामृतका समुद्ररूप अपने आपके स्वरूपको ज्ञानमें किया जाय, यह मैं हूं, ज्ञानरूप हूं, जानता हूं, यही मेरा

करना है, जान रहा हूं, यही मेरा भोगना है । जानन ही मेरा स्वरूप है, इतना ही मेरा व्यवसाय है । इसके आगे मेरा अन्य कुछ भी कार्य नहीं है । इस तरह ज्ञानमात्र अपने आपको कोई भीतर लखेगा तो उसे शान्ति प्राप्त होगी, संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा मिलेगा ।

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसम्पन्नं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥३॥

(६) धर्ममूर्ति आत्मतत्त्वके आलम्बनमें अशान्तिकी असम्भवता—

अपना इस समय एक बड़ा भारी सुन्दर भवितव्य समझना चाहिये कि हम श्रेष्ठ मनुष्य हुए हैं और इस भवमें इतना श्रेष्ठ मन मिला है कि हम उत्तम कल्याणकी बात सोच सकते हैं और कर भी सकते हैं । ऐसी सुन्दर स्थितिमें यदि बाहरी पदार्थोंके विकल्प करके अपने आपको चिन्तामें, क्लेश में रखा तो यह जीवन व्यर्थ गंवाया ही समझिये । बाहरी बातें कैसी ही आयें, कैसी ही कठिन समस्या आये, लेकिन यह समझना चाहिए कि यह कुछ भी समस्या नहीं है । ये तो बाहरी पदार्थ हैं । ये जैसे बनते हैं बनें, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । ऐसा बड़ा साहस बनाकर धर्ममार्गमें कदम बढ़ाना चाहिए । धर्म क्या चीज है ? आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है वही धर्म है । यह आत्मा स्वयं धर्ममूर्ति है । धर्म बाहर

कहाँ खोजते ? कहीं पत्थरोंमें, पहाड़ोंमें या अन्यत्र कहीं भी धर्म नहीं है। इस धर्मकी दृष्टि करनेके लिए मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थ आदि आलम्बनमात्र हैं। करनी होगी हमें अपने आपमें धर्मकी दृष्टि। धर्म है स्वभाव। एक जाननहार रहना—यही स्वभाव धर्म कहलाता है। यदि कोई जीव धर्ममें रहे तो उसे कभी अशान्ति आ नहीं सकती। जब धर्ममें नहीं रहता तब अशान्त है।

धर्म है ज्ञानस्वभाव और अपने ज्ञानस्वभावमें रमाये रहना यही है धर्मपालन। कोई पुरुष यदि अपनेको शुद्ध ज्ञान-ज्योतिमें ही रमाये हुए है तो उसको आकुलता कहाँसे आयगी ? जो भी लोग आकुलित हैं वे धर्मसे हटे हुए हैं, इस कारण आकुलित हैं। तो वह धर्मस्वभाव मेरे आत्मामें ही है। वह धर्म है शुद्ध चैतन्यस्वरूप। तो शुद्ध चैतन्यका क्या लक्षण है, उसकी क्या परिस्थिति है ? इस बातको इस श्लोकमें बताया गया है।

(१०) चैतन्यतत्त्वकी निर्विकारता—

यह शुद्ध चेतन निर्विकार है, किसी भी पदार्थका स्व-रूप ही वह विकाररहित हुआ करता है। स्वयंका जो अनादि अनन्त स्वरूप है उसमें कोई विकार नहीं है, फिर यह आत्मा जो मात्र ज्ञानका पुञ्ज है, ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप है उस आत्मामें विकार कैसे कहा जा सकता ? विकार आया करते हैं उपाधि-

वश अपनी कमजोरीसे। अपनी स्वयं सावधानी न रहे, सो विकार है। यदि कोई पुरुष अपने ज्ञानस्वभावको निरखकर ज्ञानस्वभावमात्र ही रहना चाह रहा है, ज्ञाता दृष्टा ही रहता है तो उसको आकुलता, अशान्ति, विकार नहीं आते। तो यह मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं और विकाररहित हूं। कोई भी कार्य किया जाता है तो विधिपूर्वक किया जाय तो उसमें लाभ मिलता है। व्यापारका होना या अन्य कोई कार्य होना विधिपूर्वक कार्य करते चले जायें तो उसमें लाभ मिलता है, और विधिसे हटकर कभी कुछ, कभी कुछ, इस तरहकी वृत्तिसे कार्य करे तो उसमें लाभ नहीं मिलता। तो आत्माको भी यदि शान्तिका, मुक्तिका कार्य करना है तो उसकी विधि है। उस विधिसे चलेंगे तो लाभ मिलेगा और उस विधिको छोड़कर अटपट ही किसी भी बातको धर्म मानकर चलेंगे तो भले ही धर्म मान लिया, लेकिन लाभ न मिलेगा। मुक्तिका लाभ, शान्तिका लाभ आत्मज्ञानमें हुआ करता है।

(११) स्वयंको जाननेमें जीवनकी सफलता—

तो आत्मज्ञान करना अति आवश्यक है। मैं आत्मा वास्तवमें क्या हूं, इसका परिचय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसीने आत्माका परिचय नहीं किया तो समझिये कि उसका सारा जीवन यों ही गया, जैसे कि अनेक बार जन्म लिया, मरण किया, अनेक जीवन बिताया उसी

तरहका यह भी जीवन बिता दिया समझिये । मैं आतमा क्या हूं ? मैं वह हूं जो किसी दूसरेकी आशाके बिना, दूसरेका आश्रय लिए बिना, दूसरेका निमित्त पाये बिना स्वयं जो कुछ मैं हो सकता हूं वही मैं आत्मा कहलाता हूं । अब जगतके इन सब धंधोंको देखिये—तो इनमें क्या आशा भरी है, आश्रय बसा है, एक दूसरेका निमित्त पड़ा हुआ है, उस बीच होने वाली जो बात है वह आत्माकी चीज नहीं कहला सकती । रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा आदि जो नाना प्रकारके विकार हैं ये तो परिस्थितियोंमें उत्पन्न हुई बातें हैं, आत्माके स्वरूपकी बात नहीं हैं । आत्माके स्वरूपमें तो कोई विकार नहीं ।

(११) चैतन्यतत्त्वकी निराबाधता—

जब विकार नहीं है आतमस्वरूपमें तो इसमें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं है । देखो—परम पवित्र आनन्दका घर यह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है, पर इसकी सुध नहीं है तो बाधायें ही बाधायें प्रतिक्षण चलती रहती हैं । मोही जन कुछ भी बात देखें तो उसीमें इष्ट अनिष्टकी कल्पनायें कर लेते हैं और अपनेको बाधामय बना लेते हैं, पर आत्माके स्वरूपको देखो—अपने सहजस्वभावको निरखो— वहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं है । इतना तो यहाँ भी देखा जाता कि कोई पुरुष चित्त में साहस बनाता है तो उसे दुःख कम होता है और जिसका

साहस गिर जाता है उसको दुःख ज्यादा होता है, तो वह बात क्या है ? ज्ञानकी कमी और ज्ञानकी वृद्धि। जिसका ज्ञान सही है और उस ज्ञानबलसे अपना साहस बनाये हुए हैं उसे लोकमें मानी जाने वाली प्रत्येक विपत्ति कम हो जाती है। और जिसका ज्ञान बलहीन है, साहसहीन हो गया है, बाह्य पदार्थोंसे जिसने अपना हित मान रखा है, उसका दुःख बढ़ जाया करता है।

तो यहांके दुःख सुख, शान्ति अशान्ति, ये ज्ञान व अज्ञानपर निर्भर हैं। यदि ज्ञान सही बन गया तब तो शान्ति है और अगर ज्ञान विपरीत बन गया तो वहाँ अशान्ति हो जाती है। तो शान्ति पानेके लिए हम अपना शुद्ध ज्ञान बनावें। हम ज्ञानके परिणमनके सिवाय और कुछ कर भी नहीं पाते। हर स्थितिमें हम ज्ञानका परिणमन किया करते हैं। कुछ भी कल्पना उठी, किसी भी प्रसंगमें हमारा चित्त रम रहा हो, हर बातमें ज्ञानको ही तो कर रहे हैं। ज्ञानके सिवाय हम आप कुछ नहीं कर पाते। आत्माका काम है केवल ज्ञान करना, उसके कोई हाथ-पैर तो हैं नहीं, वह कोई मूर्त वस्तु तो है नहीं, आत्माका किसी पदसे सम्बन्ध नहीं, फिर आत्मा करेगा क्या ? केवल अपने आपमें ही रहता हुआ कुछ भी ज्ञान बनाता रहे, ज्ञानकी सृष्टि करता रहे, यह इस ज्ञानब्रह्मका कार्य है। तो जब हम कल्पनायें, विचार, जान-

कारी ऐसे एक प्रतिभासके सिवाय ग्रौर कुछ नहीं कर पाते तब इस प्रतिभासको सुधार लिया जाय, शुद्ध भावना बना ली जाय तो बहुतसी समस्यायें हल हो जायेंगी। तो यह मैं ग्रात्मा स्वरूपतः बाधारहित हूं।

(१३) चैतन्यतत्त्वकी सर्वसंगवर्जितता—

यह मैं सर्व संगोंसे रहित हूं, तब ही बाधारहित हूं याने मुझ ग्रात्मामें किसी पदार्थका संग नहीं पड़ा हुग्रा है। ग्रकेला ग्राता है, ग्रकेला जाता है, ग्रकेला ही कल्पनायें करता है, अकेला ही सर्व कुछ विचार बनाता है। उसमें कोई दूसरा सहयोगी होता है क्या ? स्वरूप है, जिस लाइनसे चलना चाहता है, जो विचार बनाता है, जिस ढंगसे रहना चाहता है, रहता है। भाव बनानेमें तो हम ग्राप स्वतन्त्र ही हैं। मैं समस्त परिग्रहोंसे रहित हूं, किसी भी परपदार्थका मेरेमें संबंध नहीं जुड़ा हुग्रा है। जो लोग लाख करोड़की सम्पदामें ग्रटके हुए हैं, उसकी व्यवस्थामें, प्रबन्धमें ग्रपने ज्ञानको जुटाये हुए हैं वे पुरुष भी वस्तुतः सर्व परिग्रहोंसे रहित ही हैं। किसी भी जीवके साथ कोई प्रकारका संग या परिग्रह वैभव-सम्पदा नहीं चिपटी हुई है। तो यह मैं सर्व संगोंसे रहित हूं। कोई पुरुष ग्रपने ग्रापको ग्रकिञ्चन समझ गया कि मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है, मैं सर्व परपदार्थोंसे रहित केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, तो उसको ग्राकुलता दूर हो जाती है। मैं सर्व परि-

ग्रहोसे रहित हूं, अतएव बाधारहित हूं। मेरेमें किसी प्रकार का विकार नही है—ऐसा यह मैं आत्मा जो इस देहमें अवस्थित हूं, परम आनन्दसे युक्त हूं, मेरेको कोई क्लेश नहीं है। क्लेश तो कल्पनायें करके बनाया गया है। स्वरूप तो मेरा आनन्दमय है, तब ही दार्शनिकोंने आत्माका, ब्रह्मका स्वरूप आनन्द बताया है।

मैं आनन्दमय हूं, मैं परम आनन्दसे सम्पन्न हूं। यह बात प्रयोग करके अधिक समझमें आयी है। जैसे किस पदार्थ में कैसा स्वाद है, गन्नेमें कैसा स्वाद है, घीमें कैसा स्वाद है…· ? तो यह स्वाद केवल बातोंसे ही ठीक-ठीक समझमें न आयगा। उसे तो खाया जावे तब स्पष्ट रूपसे स्वाद समझमें आयगा। इसी प्रकार यह आत्मा परम आनन्दसे सम्पन्न है, यह बात बातोंसे समझमें न आयगी, किन्तु कोई पुरुष अपनेको सर्वसङ्गवर्जित केवल ज्ञानमात्र निहारता हुआ ज्ञानस्वरूपमें ही ज्ञानको मग्न कर दे तो उसको स्पष्ट समझमें आ जायगा कि यह मैं परम आनन्दसे सम्पन्न हूं।

(१४) चैतन्यतत्त्वकी परमानन्दसम्पन्नता—

मेरेमें क्लेश नहीं हैं, क्लेशोंकी घटना विचारकर भी उत्तर दे सकते हैं। क्लेश क्या चीज है ? कोई लोग कहते हैं कि मेरा पुत्र या मित्र या अन्य कोई गुजर गया मेरेको बड़ा कष्ट है। अरे वह आत्मा तो ज्ञानमूर्ति है। वे तो बाहरी

पदार्थ थे, अपनी आयुके उदयसे आये थे, आयुके क्षयपर यहाँ से चले गए। दूसरी आयुका उदय आ गया, दूसरे शरीरको धारण कर लिया, मेरेको कष्ट क्या हुआ? कष्ट है अज्ञानसे। जो यह अज्ञान बसाये हुए थे कि यह मेरा इष्ट है, इससे मेरे को सुख है, इससे ही मेरी आबादी है, इससे ही मेरा जीवन लगा हुआ है, यही मेरा सर्वस्व है, ऐसा अज्ञान बसाया था और था कुछ नहीं, तो वियोग होनेपर यह क्लेश मानता है। जैसे कोई पागल पुरुष कुवेंके पास चबूतरेपर ही रहा करता हो और वहांसे सड़कपर मोटर वाले, ताँगा वाले, साइकिल वाले निकलते हैं और सभी उस जगह कुछ देर ठहरकर कुवें पर पानी पीकर अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चले जाते हैं। अब वह कुवेंके पासके चबूतरेपर रहने वाला पागल दुःखी होता है, रोता है—हाय मेरी मोटर चली गई, हाय मेरी साइकिल चली गई.... । तो देखो वह कल्पनायें करके ही तो दुःखी होता है। उसके मान लेनेसे कहीं वे मोटर, साइकिल आदि उसके तो न हो जायेंगे, पर उनको वह कल्पनासे अपना मान लेता है और उनके चले जानेपर वह दुःखी होता है।

ठीक इसी प्रकार यहाँके ये अज्ञानी प्राणी परपदार्थों को अपना मानते हैं, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरा धन, यह मेरा मकान आदि, तो इनका बिछोह, विलगाव तो होगा ही, नियमसे होगा, तो यह अज्ञानी प्राणी उनके बिछोह

पर दु:खी होता है, रोता है···· । यह संसारी प्राणी अज्ञानता से दु:खी हो रहा है । यह है तो ज्ञानस्वरूप वाला आत्मा, इसका बाहरमें है कहीं कुछ नहीं, पर अज्ञानसे मान तो लिया कि यह मेरा अमुक है । अब जब उनका वियोग होता है तो वियोगके समयमें यह क्लेश मानता है, हाय मेरा चला गया । अगर यह समझ लेता कि बाहरमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा तो ज्ञानस्वरूप ही सर्वस्व है यह बुद्धि यदि होती तो वियोग होनेपर क्लेश न मानता । क्लेश किसी बाहरी पदार्थ से नहीं होता, क्लेश होता है जीवकी अज्ञानतासे । यह मैं आत्मा क्लेशरहित हूं । मोही जन भ्रमसे अपनेको रीता, दीन हीन मान रहे हैं । कुछ भी पास न हो, नहीं है सम्पदा, नहीं है अच्छा घर तो क्या हो गया ? यह आत्मा तो परम आनंद ऋद्धिसे सहज ही सम्पन्न है । अपने आपके स्वरूपको परखें तो यहां सर्व आनन्द ही कानन्द प्राप्त होगा ।

तो ऐसे परम आनन्दसे सम्पन्न अन्य सर्व पदार्थोंसे परे बाधारहित निर्विकार यह मैं आत्मा हूं । ऐसा ही इस शुद्ध चैतन्यका स्वरूप है । ऐसे शुद्ध चैतन्यको ध्यानहीन पुरुष नहीं निरख सकते । है वह अपने देहमें ही व्यवस्थित, पर कितनी बेबशी है ? अज्ञान और भ्रमके कारण कि खुद ही आनन्दनिधान है और खुद अपने आपमें आनन्द नहीं पा सकता । तो अपना स्वरूप समझियेगा कि मैं परम आनन्दसे

सम्पन्न हूं, तब शरण किसकी गहना ? जो परम आनन्दसे सम्पन्न शुद्ध चैतन्यमात्र यह मैं परमात्मतत्त्व हूं, इसका शरण गहना चाहिये, किस तरहसे इसका शरण लिया जा सकता है ? ज्ञान द्वारा। ज्ञानमें परम आनन्द सम्पन्न यह ज्ञायकस्वरूप परमात्मा बसा हो तो वहाँ आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे ही अनुभवमें अपने शुद्ध चैतन्यका शरण ग्रहण किया गया समझिये।

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात्परचिन्ताधमाधमा ॥ ४ ॥

(१५) स्वात्मचिन्तनकी उत्तमता—

यहाँ हम आप लोग कुछ न कुछ चिन्तन किया ही करते हैं। कुछ न कुछ ध्यानमें बनाये रहते हैं। तो ध्यानमें हम क्या बनायें, किसका चिन्तन करें, किसकी चिंता रखें, किसको परवाह करें कि हमारा ध्यान उत्तम कहलाये, मध्यम कहलाये या अधम कहलाये या अधमसे अधम कहलाये ? इसका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया गया है। स्वात्मचिन्तनको तो उत्तम कहा गया है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करना, आत्महितकारी भावनाका बनाना, यह उत्तम ध्यान कहलाता है। लोग सहसा कह उठते हैं कि ये साधु या ये ध्यानी, योगी बेकार हैं, स्वार्थी हैं, इनसे देशका क्या हित है ? समाजका क्या हित है ?

बल्कि बेकार ही समाजपर भाररूप है। इस तरह अज्ञानी भ्रमी जीवोंको दिखता है। और कोई पुरुष हाथ पैर पोटता हो, कुछ काम करता हो, देशका धान्य उत्पन्न करता हो, खेती बाड़ी करता हो, किसी प्रकारका उत्पादन करता हो, तो उसे कहते हैं कि यह बड़े कामका आदमी है, देश, समाजके लिए बड़ा हितरूप है। इस तरहकी भावना सभी भ्रमी लोग बनाते हैं, लेकिन जब वस्तुस्वरूपपर दृष्टि की जाय तो यह आत्मा तो सदाकाल रहने वाला है। इस आत्नाका कल्याण हो, यह आत्मा सुख-शान्तिमें रहे, यह बात तो सदाके लिए सोचनी होगी। एक केवल वर्तमान कालमें थोड़ा एक भूख-प्यासकी वेदना मेट ली या कुछ साधन जुटा लिए, कुछ मौज मान ली, और इतने मात्रसे उन्हें बड़ा हितकारी मान लिया जाय तो इसमें तो वे धोखेमें ही रहे।

यद्यपि शरीरके बन्धनमें हैं तो कुछ इस प्रकारके काम करने चाहिएँ, पर यही मेरा लक्ष्य है, ऐसा सोचकर करें तो इसमें तो उनका जीवन बेकार है। और वतमानमें भी कोई शान्तिका उपाय नहीं कर सकते। तो जब यह आत्मा सदा अकेला रहने वाला है तो इसका कोई ऐसा कार्य बने कि यह सदाके लिए संकटोसे छूट जाय। इसका उपाय है आत्माका ज्ञान करना, आत्माका ध्यान करना, आत्माका परिचय पाना। तो जा आत्मज्ञानमें, आत्मध्यानमें लगे हुए हैं वे पुरुष उत्तम

कार्यमें हैं, अपनी भलाई कर सकने वाले हैं और उनकी जो संगति पायगा, जिसको ज्ञानप्रकाश होगा वह भी फल पायगा। तो ये योगीश्वर आत्मज्ञानी पुरुष तो स्वपरोपकारी हैं। अपना भी उपकार कर रहे हैं और सहज ही उनके संगसे दूसरोंका भी उपकार होता है। तो उत्तम ध्यान तो स्वात्म-चिन्तन है। आत्मस्वरूपका चिन्तन, आत्महितके लायक भावनाका निर्माण—यह एक उत्तम चिन्तन है।

(१६) मोहचिन्तनकी मध्यमता, कामचिन्तनकी अधमता व परचिन्तनकी अधमाधमता—

मोहचिन्तन मध्यम चिन्तन कहलाता है। दूसरोंका उपकार हो, दूसरे सुखी हों, इस प्रकार परजीवोंके सुखके लिए, कल्याणके लिए चिन्तन होना यह मध्यम चिन्तन कहलाता है। इसमें दूसरे जीवोंके उपकारकी बात सोची गई, पर आत्मचिन्तनका कोई ध्यान न रखे तो वह मध्यम चिन्तन कहलायगा। शुभ भाव हैं, कुछ पुण्यबंध हो जायगा। तो ऐसी परके उपकारकी, दयाकी बात सोचना यह मध्यम ध्यान है। और अधम चिन्तन क्या है? कामचिंता। अपने इन्द्रियविषयोंके ही साधनमें उपयोग फंसाये रहना, खूब सम्पदा होनी चाहिए, हमारी इन्द्रियके विषयोंका पोषण हो, बहुत आराम का घर हो आदिक अपने ही काम-सम्बन्धी बातोंका विचार करना यह अधमचिन्तन है। कामवेदना जगी, कामवासनाके

साधन जुटाये, खूब मौज मानी····ये सब अधम चिन्तन हैं, और अधमसे अधम चिन्तन है परचिन्तन। दूसरोंको कष्ट पहुंचाना, दूसरोंपर कषायें करना, दूसरोंको बरबाद करना, दूसरे कुछ न सुहाना, दूसरोंसे विरोध रखना आदिक ये अधमाधम चिन्तन कहलाते हैं।

(१७) वास्तविक हितके लिये स्वात्मचिन्तनरूप उत्तम चिंतन का कर्तव्य—

हम आपको चाहिए कि हम उत्तम चिन्तनमें रहें। उत्तम चिन्तन यही है कि जैसे अपने आत्माका चिन्तन हो उस प्रकारकी भावना बनायें। देखो—दूसरे जीवोंके बिगाड़ की भावना रखनेमें खुदका कितना बड़ा नुक्सान है? उस कालमें भी अशान्ति है और पापकर्मका बन्ध है, सो जब उदय आयगा तो भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़ेगा। मिला क्या दूसरोंका बुरा विचारनेसे? बरबादी है, पापका बन्धन है। यह अधम चिन्तन है। इस अधमाधम चिन्तनको तो दूर ही करना चाहिए। और चले दूसरेकी बरबादीके लिए तो कितना रौद्रध्यान नहीं बनाया, पर अपने इन्द्रियविषयोंके पोषणका ध्यान बना रहे हैं, इसके लिए ही भावना और प्रयत्न कर रहे हैं।

तो इससे भी आत्माको मिलेगा क्या? बहुत बढ़िया खाकर रहे तो जीवन है, साधारण खाकर रहे तो जीवन है।

कामवासनाकी बातोंसे तो इसका कुछ हित है नहीं । तो इन्द्रिय विषयोंके चिन्तनसे भी इस आत्माको कोई लाभ न मिलेगा । अब दूसरेकी दया, दूसरेका उपकार, दूसरेके लिए ही अपना जीवन लगाये रहना यह यद्यपि कुछ शुभ भाव है, लेकिन इससे भी अपना पूरा नहीं पड़नेका, अशान्ति दूर नहीं होनेकी । अशान्ति दूर करने वाली भावना है तो वह स्वात्म चिन्तन है । आत्माके स्वरूपका ध्यान करना और जो स्वरूप समझा है केवल ज्ञानपुञ्ज, जानना बना रहना, तो इस स्वरूप के अनुभवके लिए प्रयत्न करना, यही कहलाता है स्वात्म-चिन्तन । तो स्वात्मचिन्तन करके हम अपना ध्यान उत्तम बनायें और उसमें रत रहकर अपनेको अनाकुल रखें, इसमें ही अपना हित है । बाहरी उपयोगमें अपना हित नहीं है ।

निर्विकारसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम् ।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत्पिबन्ति मनीषिणः ॥ ५ ॥

(१८) निर्विकल्पसमुत्पन्न ज्ञानसुधारसका पान—

निर्विकार पद्धतिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृतरस कहलाता है । सो इस ज्ञानामृतको बुद्धिमान लोग विवेकरूपी अंजुली करके पिया करते हैं । अमृतकी चर्चा कथाओंमें बहुत-बहुत आया करता है । कोई कहता है कि किसीने अमृतफल दिया वह अमर हो गया । तो वह अमृतफल किस तरहका होता होगा ? कोई फल जैसा है या अमृतरस कोई शर्बत

जैसा है ? कहाँसे मिलता है और क्या पीनेसे अमर हो जाता है ? वे सब कथायें केवल उपन्यास जैसी हैं, उनमें सच्चाई नहीं है । अमृतरस कहीं नहीं पडा है व अमृतफल कहीं नहीं है, जो कहीं पेड़ोंसे मिलता हो या कोई ढेला रूपमें कहीं पाया जाता हो ? तब फिर वह अमृत क्या है ? निर्विकार पद्धतिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही अमृत है । हम आप सब ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानके सिवाय हम आपमें कोई स्वरूप नही भरा है । जब हम ज्ञान ही ज्ञानमात्र हैं, इस विधिसे अपना चिन्तन करते हैं और ज्ञानमें केवल ज्ञानस्वभावको ही धारण करते हैं । इस समय ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही विषय रहनेके कारण एक निर्विकल्पता जगती है और उस निर्विकल्प पद्धतिमें जो ज्ञान जगता है, बस वही अमृतरस है । लोग कहते हैं कि अमृतको पीनेसे अमर हो जाता हैं, तो वह अमृत क्या है ? बस अपना शुद्ध ज्ञान । शुद्ध ज्ञानदृष्टि हो । मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारकी प्रतीति अनुभूति हो तो वह अमर हो गया ।

(१६) ज्ञानसुधारसपानसे अमरत्वप्राप्ति—

विशुद्ध ज्ञानानुभूति सुधारसके पानसे अमरत्व कैसे हो गया, सो देखिये—आत्मा तो अमर है, आत्माका मरण है ही नहीं, लेकिन इसकी सुध न होनेसे मैं मर जाता हूं, मैं मर जाऊँगा—इस प्रकारकी शंका लोगोंको बनी रहती है । इससे अमर नहीं कहलाते । अमर होनेपर भी इनके उपयोगमें अमर-पना नहीं है । जैसे किसीके घरमें धन गड़ा हुआ है और

उसका पता नहीं है तो वह तो गरीब है और पता हो जाने पर चाहे वह मिल नहीं पाया अभी तक, लेकिन उसका ज्ञान हो जानेपर यह बात आ गई कि मेरेमें घरमें इतना धन गड़ा है तो इतना ज्ञान होनेसे ही उसके भलेमें परिवर्तन हो गया, कुछ ठसकसी आ जाती है। धन मिलनेपर तो अमीरी है ही। इसी तरह यहाँ भी समझिये कि यद्यपि मैं आत्मा अमर हूं कोई भी पदार्थ हो सभी अमर हैं, किसीका विनाश नहीं होता। मैं आत्मा भी सद्भूत हूं, मेरा भी विनाश नहीं होने का, लेकिन ऐसे सद्भूत आत्माका परिचय जब अज्ञानी जीव को नहीं रहता तब वह पद-पदपर मरणकी शंका रखता है। सभी लोग अनुभव कर सकेंगे। अगर मरणकी कोई बात आती है तो घबड़ाहट होती कि नहीं? हाय मैं मरा, मेरा यह सब कुछ छूट रहा। तो मरनेपर यह घबड़ाहट क्यों है? इसके दो कारण हैं— (१) अहंकार और (२) ममकार। शरीरमें अहंबुद्धि लगी है—यह मैं हूं, और बाह्य पदार्थोंमें ममता लगी है, यह मेरा है। उसका भी ख्याल आता है कि ये मेरे इतने पदार्थ बिछुड़े। यों दुःखी होते हैं। ये दोनों बातें भ्रममें न रहें, इनका यथार्थ बोध हो। मैं आत्मा देहसे निराला ज्ञानस्वरूप हूं, जिसे कोई नहीं समझ रहा, ऐसा मैं ज्ञान सामान्यात्मक आत्मा यहाँ न रहा, और कहीं चला गया, पर मैं तो अमर हूं। यहाँसे चले जानेमें मेरा कोई बिगाड़ नहीं।

यह बात जब तक समझमें नहीं आती तब तक मरनेकी शंका मिट नहीं सकती।

(२०) समाधिमरणका महत्त्व—

देखो मरण सबको आता है और मरणसमयमें जैसा भाव बनेगा उस भावके अनुसार ही आगेका सारा जीवन चलेगा। प्रायः यह बात होती है कि मरण समयमें जैसा परिणाम होता है उस परिणामके अनुसार अगला जन्म होता है और उस जन्ममें करीब-करीब उसके अनुसार ही काम बनता है। इससे मरणसमयमें अपनेको सावधान बना सकें यह एक बहुत बड़ा काम है। मान लो आपने जीवनभर व्यापार किया और काफी धन-वैभव बढ़ा लिया, इज्जत प्रतिष्ठा बढ़ा ली, घरके लोगोंको बड़े उत्कर्षमें ला दिया, सब कुछ किया। अब मर रहे हैं उस समय जो शुद्ध भाव बनाया, निर्मल परिणाम बनाया तो समझ लो कि मेरा आगेका भवितव्य अच्छा है और मरण समयमें अशुभ भाव बनाया तो फिर उससे लाभ क्या मिलेगा ? सारे जीवनभर अनेक कार्य कर डाले, पर सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है मरणसमयमें समता भावका जगना और प्रसन्नताके साथ मरण करना। तभी देखो—ऐसे मरणका नाम समाधिमरण कहा है। किसी जन्म का नाम तो समाधिजन्म नहीं कहा गया ? जहाँ आधि, व्याधि, चिन्ता, रोग, शोक सब शान्त हो गए वह समाधि

है। समाधिमरणका इतना महत्त्व है इस जीवके लिए कि इस जीवके कल्याणका साधन बने, आगे जन्म उत्तम मिले, धर्मके प्रसंग मिलें, ये सब बातें समाधिमरणपर निर्भर हैं।

(२१) हर परिस्थितिमें धर्मपालनकी शीघ्रता करनेकी शिक्षा देने वाला उदाहरण—

एक बुन्देलखण्डकी घटना है कि एक स्त्रीके बच्चा होने वाला था, सो बच्चा होते ही वह कठिन बीमार हो गयी, मरणासन्न दशाको प्राप्त हो गई। तो उस स्त्रीका पति सामने आकर रोने लगा और कहने लगा कि तुम्हारी तो ऐसी हालत हो गई है, अब हम तुम्हारे गुजरनेके बाद क्या करेंगे? हम तो फिर असहाय हो जायेंगे। तो स्त्री बोली कि तुम तो झूठ मूठमें रो रहे हो। तुम्हें रोनेका क्या काम? अरे रोयें तो ये दो-तीन बच्चे रोयें। हमारे मरणके बाद श्मशान तक भी हमारी लाश न पहुंच पायेगी कि आपकी दूसरी शादीकी बात होने लगेगी, तुम्हारा दूसरा विवाह हो जायगा, तुम्हें रोनेकी क्या जरूरत? स्त्रीकी इतनी बात सुनकर पतिका दिल भर आया और पति बोला—लो हम प्रतिज्ञा करते हैं कि अब दूसरी शादी नहीं करेंगे। बस ये दो-तीन बच्चे हमारे लिए काफी हैं। तो स्त्री बोली——देखो इस समय यहाँ हम तुम दोनों हैं, और कोई नहीं है। हाँ प्रभु जरूर जान रहे हैं, तुम अपने निर्णयपर दृढ़ रहना। पतिने कहा——मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण

करूँगा। फिर बोला—तुम जो चाहो इस समय हमसे दान करवा सकती हो। हम टूटी-फूटी कुटियामें रह लेंगे, पर तुम्हारे कहे अनुसार सब कुछ अर्पण कर देनेको तैयार हैं, तुम्हारी जो इच्छा हो सो बताओ– तो स्त्री बोली—क्या हम जो कहें सो कर दोगे ?····हाँ कर देंगे।····अच्छा तुम भी यहाँसे चले जावो, बच्चे वगैरा कोई मेरे पास न आयें, मैं यहीं पर अकेले रहकर समाधिमरण करना चाहती हूं। स्त्रीकी बात सुनकर पति वहाँसे चला गया और वह स्त्री सबको अपने चित्तसे हटाकर समाधिपूर्वक मरण करती है। अब देखो— बताते हैं ना कि बच्चा पैदा होनेके बाद इतने दिन सूतक रहते, धर्म नहीं कर सकते, लेकिन ऐसा न सोचना चाहिए। यद्यपि वहाँ (शारीरिक अशुद्धि है, पर भावोंमें शुद्धि रहे तो वही उसका धर्मपालन है) तो चाहे कितनी ही अशुद्ध दशा हो, कैसी ही स्थिति हो, फिर भी धर्मपालनके लिए कहीं मनाही नहीं है।

(२२) ज्ञानसुधारसपानके बिना जीवके जीवन मरणकी अशोभनता—

ज्ञानकी निर्विकार पद्धतिसे उत्पन्न हुआ ज्ञानसुधारस है। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे, ज्ञानमात्र स्थिति रहे, ऐसे ज्ञानकी अनुभूति करना, बस यही ज्ञानामृतका पान है, और इसे पीना है विवेक द्वारा। कोई पानी पीना चाहता हो तो

अंजुलीसे पी ले, पर इस ज्ञानको किस चीजके द्वारा पिये ? इस ज्ञानामृतको विवेक द्वारा पीना चाहिए। विवेक कहते हैं भेदबुद्धिसे असारको छोड़कर सारका आलम्बन लेना। मैं देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, अविनाशी हूं. मुझे कोई पहिचानता भी नहीं है। मेरा यहाँ कुछ है ही नहीं। मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश ही नहीं है। मैं अपने स्वरूप मात्र हूं, ऐसी अपने स्वरूपको दृष्टि करें और सब दुनियाको अपरिचित समझ लें, फिर मुझे करनेका क्या डर ? देखिये जो परिचय है, जो राग है, जो स्नेह है यह भी आत्मकल्याण में बाधक है। परिचय बिल्कुल सब खतम हो जाय, मेरा किसीसे परिचय नहीं, मुझे कोई नहीं जानता, मैं भी किसीको कुछ नहीं जानता। आखिर मैं इस मनुष्यभवमें न होता, किसी अन्य पर्यायमें होता या अन्य जगहका मनुष्य होता तब मेरे लिए यहांका समागम कुछ न था। हम और ही जगह हैं अथवा हम और किसी पर्यायमें हैं, ऐसा भी सोचकर मान लो मेरे लिए सारा जगत अपरिचित है। यदि अपरिचितपनेकी बुद्धि आये तो मरणसमयमें समता धारण कर सकते। मानो जिन्दगीभर तकलीफ की, उद्योग किया, अनेक विकल्प किए, ममता की और मरण समयमें भी तकलीफ भोगते रहे तो फिर उसकी जिन्दगीका क्या महत्त्व ? जिन्दा भी बुरे ढंगसे रहे और मरे भी बुरे ढंगसे तो क्या फायदा मिला ? जिन्दा

तो बुरे ढंगसे यों रहे कि ममता बसी, आकुलता रही, परमात्मस्वरूपमें मन न लगा, आत्मस्वरूपमें चित्त नहीं जमा। किसी भी क्षण मोही विश्राम नहीं ले पाते, विकल्पोंके द्वारा निरन्तर आकुलतायें मचाते, विश्रामसे कभी भीतर ठहर नहीं पाते। बिना विकल्पके बिना ख्यालके कुछ भी क्षण नहीं व्यतीत हो पाते और आत्माका जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसका रस ज्ञान द्वारा पीता रहे, ऐसा एक क्षण भी नहीं पाया। आकुलताओंमें ही सारा समय बिताया। तो बताओ जिन्दगी बुरी तरह गुजरी या नहीं? मान रहे कि यहाँके ये वैभव आदिक मेरे हैं, इज्जत प्रतिष्ठा मेरी है···, पर इस तूतीकी आवाजको सुनता कौन है? आपकी इस भीतरी परिणतिका फल आप भोग रहे हैं, उसे दूसरा कौन भोगेगा?

(२३) मोहकी निरर्थकता—

(३४३ घनराजू प्रमाण दुनिया है) इस सारे विश्वलोकके सामने यह हजार पाँच सौ मीलका क्षेत्र कुछ गिनती भी रखता है क्या? उस असंख्यातों योजनों प्रमाणके सामने यह थोड़ा क्षेत्र उतना भी तो नहीं है जितना कि समुद्रके सामने एक बूंद हो। तो बताओ सारी दुनिया इतनी पड़ी है जहाँ जन्म लेना पड़ेगा, रहना पड़ेगा, उसके मुकाबलेमें यह परिचित क्षेत्र क्या मूल्य रखता है? अनन्तकाल आगे पड़ा है जहाँ हमको सदा रहना है। उस अनन्तकालके सामने यह

१००-५० वर्षका जीवनकाल कुछ गिनती भी रखता है क्या? जो इतने कालके मौजके लिए हम अपनेको बरबाद कर डालते हैं। जो पदार्थ है वह कभी मिटता नहीं है, किसी भी वैज्ञानिकसे पूछ लो--जितने भी अणु हैं, परिवर्तन भले ही हो, पर मूलत: नष्ट नहीं होते। अपने बारेमें भी विचारो कि मैं भी कुछ हूं कि नहीं। यदि ऐसा होता कि मैं कुछ भी न होता तब तो बड़े आनन्दको बात था। मैं कुछ हूं ही नहीं, फिर दु:ख सुख किसमें हो? पर ऐसा नहीं है। मैं हूं, हूं को कैसे मना कर दिया जाय? जो कोई यह कह रहा हो कि मैं नहीं हूँ तो वह भी तो हूं कह रहा है, अस्तित्व तो स्वीकार कर रहा है। वह मनाकी बात कर रहा, पर जो मना कर रहा वही तो कुछ है। तो मैं हूं और मैं हूं तो सदा रहूंगा। सदा रहूंगा तो किसी न किसी हालतमें रहूंगा। जैसे आज मैं मनुष्य हूं। तब आगेकी बात सोचो कि जो आगेका अनंतकाल पड़ा हुआ है। तब मैं किस तरह रहूं, जिसमें मेरा कल्याण हो।

जैसे किसी दो-चार हजार वाले साधारण धनिकसे कहा जाय कि देखो हम तुम्हें दो दिनके लिए यहाँका राजा बनाये देते हैं, परन्तु दो दिनके बादमें आपके पास जितना जो कुछ होगा सब कुछ छीन लिया जायगा और तुमको किसी जंगलमें छोड़ दिया जायगा, तो क्या वह ऐसा राजा बनना

स्वीकार करेगा ? नहीं स्वीकार करेगा। वह तो ऐसी स्थिति चाहेगा जो कि उसका सारा जीवन अच्छी तरह व्यतीत हो। तो जैसे यहां लोग साधारण स्थितिको चाहनेपर राजा (धनिक) बनकर फिर बिल्कुल हल्का (अत्यन्त दीन) बनना स्वीकार नहीं करते, ऐसे ही सोचों कि एक भवमें विषयान्ध बनकर, सब तरहसे लौकिक बड़प्पन पाया, सो वैभवकी ओर से, इज्जतकी ओरसे मदांध होकर अपना जीवन यों ही गुजार दिया तो उसका फल क्या होगा कि इस समय भी जो कुछ मिला है वह भी न रहेगा, इससे भी बुरी गति मिलेगी। तो क्या ऐसी दशा मंजूर होनी चाहिए। अरे अधिकाधिक समय मिलना चाहिए धर्मपालनका। गृहस्थ वह उत्तम है, मनुष्य वह उत्तम है जो धर्मके लिए अपना अधिकाधिक समय दे। वह धर्म है ज्ञानमें, इसलिए ज्ञानकी बातमें अधिक समय दें, उसमें मार्ग मिलेगा। स्वाध्याय करके, भाषण सुनकर, तत्त्व-चर्चा करके, कोई पुस्तक पढ़कर, कुछ चिन्तन मनन करके धर्ममें समय अधिक लगावें तो उसका मनुष्यभव पाना सफल है।

(२४) विषयविषपानको तजकर ज्ञानसुधारसपान करनेमें मनीषिता—

अपने आत्माके बारेमें जब कोई इस तरहकी भावना बनाता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ नहीं

हूं। ज्ञान यहीं घनरूपमें है, ऐसा मैं ज्ञानमात्र हूं, तो ऐसा सोचते समय ज्ञानके स्वरूपको वह ज्ञानमें ले रहा है। मैं जानता हूं, जानना क्या कहलाता ? एक ऐसी अन्तःज्योति, जिसमें समझ बनी, जानना बना। बस जानन प्रकाशमात्र मैं हूं—इस तरह ज्ञानस्वरूपपर जिसकी दृष्टि बनी हो, क्षणभरमें बाहरी विकल्प रुक जायें तो यही ज्ञानानुभूति है, यही ज्ञान-सुधारस है। इसे बुद्धिमान लोग विवेकरूपी अंजुलीके द्वारसे पीते हैं। तृप्त होते हैं। दोनों बातें हैं—एक ओर तो विषयविष है और एक ओर ज्ञानसुधारस है। जब हम बाहर देखते हैं, इस इन्द्रियद्वारसे निरखते हैं तो बाह्य पदार्थ ये विषय हैं, इस विषयमें जो लगाव लगना है वह विषका पीना है और जब अपने अन्तःस्वरूपमें देखते हैं—मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानदृष्टि में रहता हूं तो ऐसे ज्ञानमें जब ज्ञानस्वरूप समाता है तो वह कहलाता है ज्ञानामृतका पान करना। बाहर हो रहा है विषयविषका पान करना और अन्तःस्वरूपमें दृष्टि जगे तो वह कहलायगा ज्ञानसुधारसका पान करना। दोनों बातें इसकी सुगम हैं, चाहे विषयविष पी ले, चाहे ज्ञानसुधारस पी ले। अब यहाँ यह विवेककी बात है कि हम इन दोनोंमें क्या पिये ? जरा अपने मनको समझानेकी बात है। अहंकार, ममता, विकल्प—इनमे अपनेको न फंसायें और अपने आत्माके ज्ञानस्व-रूपकी सुध लेकर ज्ञानमें ज्ञानको समा दें, यह भी काम कर

सकते हैं। तो विवेक यह करना है कि हम अपने आत्माका काम करें तो निर्विकार विधिसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है वही सुधारस कहलाता है। उसको विवेकी जन, बुद्धिमान जन विवेकरूपी अंजुली करके बड़ी रुचिपूर्वक पान करते हैं।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्दकारणम् ॥६॥

(२३) सदानन्दमय जीवके ज्ञाता द्वारा ही परमानन्द कारणभूत अन्तस्तत्त्वकी उपासनाकी शक्यता —

पंडित कौन है जो इस जीवको शाश्वत आनन्दमय समझ रहा है। यह ज्ञानी पुरुष आत्मस्वभावदृष्टि करके तक रहा है। मैं शाश्वत समीचीन शुद्ध स्वाधीन आनन्दस्वरूप हूं। कोई चीज हो तो वह अपने आप ही तो कुछ है। जैसे यह छोटासा तिनका है तो वह अपने आपमें है, यह चौकी अपने आपमें है याने चौकी जिन चीजोंसे, जिन परमाणुओंसे बनी है वह उनसे ही बनी है। कोई पदार्थ किसी दूसरे की दयासे अपनी सत्ता नहीं रखता, प्रत्येक पदार्थ अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। जैसे मैं हूं तो मैं किसी दूसरेकी दयासे नहीं हूं। मैं अपने आपकी सत्तासे हूं। तो प्रत्येक पदार्थ जो है वह अपनी सत्तासे ही है। अब अपने बारेमें भी सोचो कि मैं अपने आपकी सत्तासे किस रूप हूं? आज मैं मनुष्य बना हुआ हूं तो मात्र अपनी सत्तासे नहीं बन सका। कर्मका सम्बंध है,

विभावका सम्बंध है, तो यह अभी मनुष्यपर्यायमें है। दूसरी चीजके सम्बंध बिना चीज अपने आप जैसी रह सके उसे स्वरूप कहते हैं। पानीका स्वभाव ठंडा है, अग्निके सम्बंधसे पानी गर्म तो हो गया, पर पानीका स्वरूप गर्म न कहा जायगा। गर्म तो आगका स्वरूप कहा जायगा। तो स्वरूपके मायने यह है कि खुदका वह रूप जो दूसरेके सम्बंधके बिना रह सके। उसे ही स्वभाव कहते हैं। तो मेरे आत्माका स्वरूप क्या, स्वभाव क्या? जो दूसरेके सम्बन्ध बिना रहता हो? बस ऐसी परख जिसने कर लिया वह ही ज्ञानी है और ऐसी परखके लिए हम परमात्माकी भक्ति करते हैं। जब परमात्मके स्वरूपको सोचेंगे तो झट समझमें आ जायगा कि आत्माका सही स्वरूप यह है जो दूसरेके सम्बन्ध बिना होता है। परमात्मा किस कहते हैं? खालिस आत्मा, केवल आत्मा जिसके साथ कर्म नहीं लगे, जिसके साथ रागद्वेष नहीं हैं, जिसके साथ शरीर नहीं है, केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा है वह है आत्माका शुद्ध स्वरूप। तो जैसा आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रकट रूपसे परमात्मामें हमें ज्ञात होता है वही शुद्ध स्वरूप प्रकट तो मेरे स्वभावमें है अर्थात् परसम्बंधके बिना अपने आप जो बात होनेको हो वही बात हममें है, परन्तु परसम्बन्ध होनेसे नहीं प्रकट है। तो इस तरह जो अपनेको जानता है कि मैं तो शुद्ध

आनन्दमय हूं, उसे पंडित कहते हैं और वही पंडित अपने आत्माकी उपासना कर सकता है। कैसा है यह आत्मा ? जो उत्कृष्ट आनन्दका कारणभूत है।

(२४) सुखस्वभाव निज आत्मपदार्थसे ही सुखकी उपलब्धि—

एक बात और देखिये कि जब कभी हमें आनन्द मिलता है तो मैं आनन्दस्वरूप हूँ तब ही तो यहांसे आनन्द प्रकट होता है। यदि मैं आनन्दस्वरूप न होता तो किसी भी विधिसे आनन्द न प्रकट होता। जैसे तिलमें तेल है तो कोल्हू से पेलनेपर तेल निकल आता है और बालू (रेत) में तेल नहीं है तो उसे कितना ही कोल्हूमें पेला जाय, पर उससे तेल नहीं निकल सकता। ऐसे ही जो सुख हमें कभी-कभी मिलता है, आनन्द मिलता है तो वह सुख, वह आनन्द मेरे स्वभावमें पड़ा हुआ है तभी तो वहांसे वह प्रकट होता है। किसी दूसरी चीजसे नहीं प्रकट होता। जैसे तिलमें से तेल निकला तो क्या वह कोल्हूसे निकला या उसके किसी पेंच पुर्जेसे निकला ? अरे वह तो तिलसे ही निकला। इसी तरह यह सुख, यह आनन्द क्या किसी दूकानसे निकलता, क्या किसी परिजन, मित्रजन अथवा धन-दौलतसे निकलता ? क्या किसीके देहसे निकलता ? अरे मेरा सुख निकला मेरे ही सुखस्वभावसे। मेरे आत्माका स्वरूप आनन्दमय है, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं है। ऐसी जो दृष्टि रखता है, आनन्दमय ज्ञानस्वरूप अपने

आत्माको जो ज्ञानमें लेता है वही आत्माका उपासक है, वही परमात्माका उपासक है। अन्तरङ्गकी यह बात जो कर सके सो चतुर है, पंडित है, निकटभव्य है, मोक्षमें जाने वाला है, बड़ा पवित्र आत्मा है। और जो यह न कर सके, बाहरी ममता, अहंकार आदिकमें ही रहे तो वह संसारी जीव है, जन्म मरण ही उसका चलता रहता है। कितने खेदकी बात है कि इस मोहसे ही दुःखी भी हो रहे, आकुलित हो रहे, परेशान हो रहे, पर ज्ञानज्योति नहीं जग पा रही। यदि इन समस्त परेशानियोंसे बचना है तो हमें अपना जीवन एक नये मोहमें लाना होगा। विषयोंसे चित्त हटाकर इस ज्ञानसुधारस में चित्त देना होगा। यों ज्ञानका अर्जन करें और इसमें जितना समय बीते और मरण समयमें जितना अधिक साव-धान रहें, समझिये उतनी ही जीवनकी सफलता है। इसके विरुद्ध चलनेमें हमारे जीवनकी कोई सफलता नहीं है।

नलिन्यां च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति निर्मलः ॥ ७ ॥

(२५) कमलिनी पत्रमें जलकी तरह देहमें रहकर भी आत्मा की भिन्नता—

जैसे पानी कमलपत्रपर नहीं ठहरता है, कमलपत्रमें पानी भरा हो तब भी वह पानी कमलपत्रसे निराला है, इसी प्रकार यह आत्मा देहमें रहता हुआ भी इस देहसे निराला है।

यद्यपि पानी सभी पत्तोंसे निराला है, किसी भी पत्तेमें पानी है तो पानी पानी है, पत्ते पत्ते हैं। पत्तेमें पानीका प्रवेश नहीं और पानीमें पत्तेका प्रवेश नहीं। तो स्वरूप दोनोंका पृथक् है फिर भी कमलपत्रका जो दृष्टान्त दिया है वह एक शीघ्रतासे समझनेके लिए दिया है। कमलिनीका पत्र ऐसा खास होता है कि उसपर पानीका चिपकाव होता ही नहीं है। इतना चिकना पत्र है कि उसपर पानी ढुलकता रहता है, चिपकता नहीं है। जैसे कि अन्य पत्तोंपर पानी पड़ा हो तो कुछ पानी का अंश है पत्तेपर, यह दिखता है, पहिचान सकते हैं, पर कमलिनीका पत्र पानीमें डुबा देनेपर बाहर निकाला जाय तो तुरन्त ही निकाला जानेपर भी कोई नहीं पहिचान सकता कि यह पत्ता पानीमें था। इतना चिकना होता है कि पानीकी एक बूंद भी उसपर ठहरती नहीं है। तो शीघ्रतासे समझनेके लिए यह दृष्टांत दिया है कि देखो जैसे पानी कमलिनीपत्रमें रहता हुआ भिन्न ठहर रहा है, इसी प्रकार यह आत्मा स्वभावतः देहमें रहता हुआ भी भिन्न है। जब अपने आपके ज्ञानस्वरूपपर दृष्टि दी जाती है तो यह ज्ञानमय आत्मा ही केवल नजर आता है, शरीरके साथ नजर नहीं आता। हाँ जब बाहर इन्द्रियोंसे कुछ निरखते हैं तो वहाँ ऐसा मालूम होता कि यह ही तो जीव है। और देहसे निराला जीव है, ऐसी पहिचान नहीं हो पाती, लेकिन जीव नियमतः स्वभावसे

देहसे निराला है, अन्य सर्व पदार्थोंसे निराला है। मेरा स्वरूप किसी भी वस्तुसे मिला हुआ नहीं है।

(२६) सहज आत्मस्वरूपकी उपलब्धि भेदविज्ञानकी सत्यताकी साधिका—

यद्यपि मोटे रूपसे तो लोग तब जान ही जाते हैं जब कोई जीव देहको छोड़कर चला गया। देखो सभी लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि मरणके बाद जीव यहाँ न रहा, चला गया। जीव न्यारा है तब ही तो मरनेपर यह जीव देहसे हटकर चला गया, परंतु जो हटकर चला गया है वह जीव कैसा है, उसका क्या स्वरूप है ? इसका परिचय नहीं है। भेदविज्ञान तो तब कहलायगा जब यथार्थस्वरूपका परिचय हो। यों कहने मात्र से भेदविज्ञान नहीं बनता। भेदविज्ञान करना है जीवके सहज स्वरूपको अन्य सबसे निराला तकनेके लिए। वहां तो यह भी देखा जाता कि मुझमें जो कषायें उत्पन्न होती हैं, विषय भावनायें जगती हैं, परिणाम हो रहे हैं उनसे भी मेरा सहज स्वरूप निराला है। ऐसा यह मैं जीव, यह मैं आतमा देहमें रहता हुआ भी देहसे निराला हूं। आत्मा तीन तरहके बताये गए हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। जितने भी लोकमें जीव हैं वे सब जीव इन तीन प्रकारोंमें से किसीमें हैं। कोई बहिरात्मा हैं याने बाहरमें आत्मा मानते, बाह्य पदार्थोंमें आत्माकी श्रद्धा करते कि यह मैं हूं, उसे कहते

हैं बहिरात्मा। जो बाहरी चीजमें ऐसी प्रतीति रखते हैं कि यह मेरा है उसे कहते हैं बहिरात्मा। बहिरात्मा तो संसारमें भरे ही पड़े हुये हैं। अन्तरात्मा कहते हैं अंतः (भीतर) जो आत्माका स्वरूप है उसे आत्मा मानना। ज्ञानमात्र ही मैं हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकारकी जिनकी प्रतीति बनी है उन्हें कहते हैं अन्तरात्मा। और परमात्मा परम आत्मा, जो उत्कृष्ट आत्मा हो सो परमात्मा कहलाता है। उत्कृष्टके मायने क्या? जहाँ उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्द प्रकट हुआ हो, ऐसे आत्माको कहते हैं परमात्मा।

हममें परमात्मा होनेकी सामर्थ्य है। अन्तरात्मा तो अभी हो ही सकते हैं सो हो ही लें, बहिरात्मापनका त्याग कर दें। यह सब कला हम आपमें है और ऐसा करनेमें ही जीवका भला है, घरमें रहे, मोहसे रहे, रागद्वेष करके रहे, विषयान्ध रहे, मौजमें मस्त रहे तो इस मरणसे इस जीवको क्या लाभ है? कुछ इसने कल्पनामें सुख मान लिया है। अन्तमें तो समय आयगा, मरण होगा, इससे आगे जाना पड़ेगा। यह चार दिनकी चाँदनी है, इससे क्या पूरा पड़ता है? मैं इस देहसे निराला हूं, इस दिखती हुई दुनियासे निराला हूं, इसलिए इसमें अहंकार ममकार न करना। तो तीन प्रकारके आत्माओंमें अन्तरात्मा होनेकी बात परमात्मा होनेका उपाय है। परमका अर्थ है—पर मा, पर कहिये

उत्कृष्ट, मा कहिये लक्ष्मी। 'परा मा विद्यते यत्र स परमः।' उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ पायी जाती है उसे परम कहते हैं और परम आत्माको परमात्मा कहते हैं। ऐसा भगवान द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे निराला केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अनंत आनन्दमय प्रभु है। ऐसी प्रभुता पानेमें हम आपका कल्याण है, सुख है।

(२७) **परमात्मत्व पानेके प्रोग्राममें ही भलाई—**

परमात्मा होनेका ही हमें अपना प्रोग्राम रखना चाहिए। मैं मनुष्य हुआ हूँ तो मैं क्या बनूं, क्या होऊँ? तो उत्तर यह होना चाहिए कि मैं परमात्मा बनूं। अन्य स्थितियों में लाभ नहीं है। और स्थितियोंके नाम लेकर बताइये— आप क्या बनना चाहते हैं, जिससे आपका कल्याण हो? क्या कोई दुनियावी मिनिस्टरी आदि प्रतिष्ठित पद पा लेनेसे आपका कल्याण हो जायगा? अरे वहाँ तो बड़ी चिन्ता रहती है। अभी-अभी उस पदपर नियुक्त हुए, पर अगले एलेक्शन की चिन्ता अभीसे शुरू हो गई। पता नहीं अगले चुनावमें हमारी जीत होगी या नहीं? तो सबको खुश रखनेकी सोचते। लोगोंको जो आश्वासन दे रखा है कि हम ये ये काम करके दिखावेंगे, जिसके कारण लोगोंसे वोट मिले हैं, तो कुछ काम तो करना चाहिए, नहीं तो आगे मैदान साफ होगा, इसकी भी चिंता लगी है। विरोधियों द्वारा आक्रमणका भी भय

बना रहे, तो इस लौकिक पदसे लाभ क्या ? इस जीवको मौज माननेकी, मान करनेकी आदत पड़ी हुई है। छोटी स्थितिमें रहता हुआ भी पुरुष अपने सम्पर्कमें आये हुए छोटे पुरुषके प्रति मान रखता है और उसमें वह अपनी तृप्ति समझता है। तो इस संसारमें कोनसी ऐसी स्थिति है जो प्राप्त करने योग्य हो। मान लो कोई राष्ट्रपति बन गया, प्रधानमंत्री बन गया या संयुक्तराष्ट्रसंघका मंत्री मेम्बर बन गया तो वहाँ भी इसे क्या विश्राम मिलेगा ? अरे रात दिन चिन्तायें ही बनी रहेंगी। शान्तिकी प्राप्ति वहाँ भी नहीं हो सकती। मान लो कोई लखपति, करोड़पति, अरबपति आदि धनिक बन गया तो वहाँ भी उसे अनेक चिन्तायें रहेगी। जितने बड़े परिग्रहका समागम होगा उतनी ही अधिक चिन्तायें रहेंगी। ऐसी ही बात हर स्थितिमें है। संसारकी कोई भी स्थिति कल्याण कारी नहीं है। मात्र एक यही स्थिति कल्याण की है कि मैं अकेला ही रह जाऊँ, मेरे साथ न शरीर हो, न कर्म हों, चिन्तन, मनन, विचार, वितर्क, विभाव, राग, विरोध विषयकषायकी कोई किल्लत न हो, मैं ज्ञानस्वरूप केवल ज्ञानस्वरूप ही रहूं, जगमगाता ही रहूं, ऐसी मेरी स्थिति हो, इसी में मेरा कल्याण है, अन्य बातमें मेरा कल्याण नहीं है।

(२८) सुहावने जंचने वाले बाह्यपदार्थोंकी क्लेशकारणताका दिग्दर्शन —

जो चीज आज यहाँ सुन्दर लग रही है वह चीज हमको तड़फा-तड़फाकर बरबाद करने वाली है, यों ध्यान लायें। इस अज्ञानभरी स्थितिमें क्या सुन्दर लग रहे? विषय साधन, घर, मकान, वैभव, प्रतिष्ठा, स्त्री पुत्रादिक जो भी अपनेको सुन्दर जंचते हैं वे अपनेको क्लेशके ही कारण हैं। मोटी दृष्टिसे देखो तो ये यों क्लेशके कारण हैं कि जिनसे प्यार किया उनका वियोग होगा ही, तो वियोगके समय कितना दुःख मानना पड़ता है? स्थूलरूपसे तो यों ही समझ सकते हैं कि यह दृश्यमान सारा समागम मेरी बरबादीके लिए है। परमार्थसे देखो तो जो जितना सुन्दर जँच रहा है वह यों जँच रहा कि उसके प्रति तीव्र राग है। अपनेमें राग आये बिना कोई सुन्दर नहीं जँचता। ये ही दूसरोंके शरीर हैं क्या? हाड़, मांस, चाम, पसीना, खून, मल-मूत्र आदिक इनका पिण्ड है और है क्या? सामनेसे शक्ल दिखती है। नाकसे बड़ी सुन्दरता मानी जाती है। और यह ही नाक है जो कि बड़े मलको बहाने वाली है। जहाँ मल बहुत पड़ा हुआ है, लेकिन जब रागकी तीव्रता होती है तो इन अपवित्र चीजोंपर दृष्टि नहीं रहती है, किन्तु वहाँ ही इस चामचादरमें सुन्दरता जँच जाया करती है। जब राग न हो तब तो वह ऐसा ही लगता है कि कैसा यह चामका पुतला है, कितना अपवित्र है। इसमें क्या सार है? तो सुन्दर कौन बताया

करता ? हमारा रागभाव सुन्दर कुछ नहीं है दुनियामें। यदि राग है तो वहाँ सुन्दरता नजर आयगी और यदि राग नहीं है तो सुन्दरता नहीं नजर आती।

अब द्रव्यदृष्टिसे देखो—सुन्दरका अर्थ क्या है ? सुन्दर में तीन शब्द पड़े हैं—सु, उन्द, अर। सु उपसर्ग है, उन्द् धातु है और अर प्रत्यय है। जिसका अर्थ है उन्दी क्लेदने, उन्द् धातु आती है तड़फा-तड़फाकर मारनेमें। यह संस्कृत धातुका अर्थ कह रहे हैं। और उपसर्ग लगा है सु, जिसका अर्थ है भली प्रकारसे। तो भली प्रकारसे मारने वालेको, क्लेद करने वालेको कहते हैं सुन्दर। जिस वस्तुको आप सुन्दर कहते हो उसका अर्थ है तड़फा-तड़फाकर बुरी तरहसे मारने वाला। तो दृश्यमान पदार्थोंमें कौनसा पदार्थ विश्वासके योग्य है जो इस जीवको कल्याणकारी हो ? कुछ भी नहीं है। तब कल्याण आत्मामें ही खोजें।

(२६) आत्माके अन्तः ही शान्तिकी उपलब्धि—

शान्तिका साधन मिलेगा अपने आत्मामें। यह ज्ञान ही तो है उपयोग। इस उपयोगको बाह्य पदार्थोंमें रख दें तो वहाँ अशान्ति मिलेगी और अपने आत्मस्वरूपमें रख दें तो शान्ति मिलेगी, क्योंकि बाह्य पदार्थोंमें जब हमारा ज्ञान जुड़ता है, लगता है तो वहाँ हम अपने आपसे तो रीते हो गए। पहिला दुःख तो यह है, दूसरे वे बाह्यपदार्थ हैं क्षणभंगुर,

भिन्न चीज, नष्ट हो जाने वाले, मेरे अनुकूल न चलने वाले। तो उसके अनेक क्लेश माने जाते हैं। तो बाह्य दृष्टिमें इस जीवको शान्ति न मिलेगी। इसका उत्कृष्ट आनन्द, इसका सर्वस्व इस ही आत्मामें मौजूद है। स्वभावदृष्टिसे देखो तो अंदाज होगा, लेकिन विषयकषायोंने इसको आवृत कर दिया है, अब ये प्रकट नहीं हो रहे। तो अज्ञान मेटो, यही शांतिका उपाय है। बहुतसे वैभव समागम जुटा लो यह शान्तिका उपाय नहीं, किन्तु अज्ञान मिटे, यह शान्तिका उपाय है।

जगतके प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। किसी वस्तुका किसी अन्य वस्तुके साथ कोई नाता सम्बन्ध नहीं है। सब अपने-अपनेमें अपना परिणमन करते हैं, लेकिन इसके खिलाफ कोई बात समझे कि यह तो मेरा है, मेरेको छोड़कर कहाँ जायगा? तो ऐसा जिसने परवस्तुमें ममत्व लगाया है उसका दुःखी होना प्राकृतिक बात है। यह मैं आत्मा इस देहमें रहता हुआ भी इससे निराला हूं, स्वभाव से ही निराला हूं, ऐसा जो अपने आपमें अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी प्रतीति करता है उसको परम आनन्द प्रकट होता है।

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि निश्चयेन चिदात्मनः॥ ८॥

(३०) द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित भगवान आत्मस्व-

रूपकी श्रद्धा—

यह मैं आत्मा इस समय तीन परतत्त्वोंसे दबा हुआ हूं। वे हैं—(१) द्रव्यकर्म, (२) भावकर्म, (३) नोकर्म। शरीर, कर्म और विषयकषायके परिणाम, इनसे मैं आक्रान्त हूं परेशान हूं, परतंत्र हूं, दुःखी हूं, लेकिन जब मैं अपने स्वभावको देखता हूं तो मेरे स्वभावमें ये तीनों ही तत्त्व नहीं हैं। ये बहिस्तत्त्व कहलाते हैं। स्वभावदृष्टि करें, स्वभावके आलबनसे ही ये सब बाधायें दूर होंगी। बाहरमें हम किसका शरण तकें ? सभी जीव कर्मके प्रेरे दुःखी हैं। जन्ममरण करते हुए हमारी तरह ये भी दुःखी होते हैं। इनमें हम किसका शरण तकें, जिसकी शरणसे मेरे आत्माका उपकार हो ? मेरेको मेरा आत्मा ही शरण है। वह आत्मद्रव्य ही भावकर्म और नोकर्म इन तीनों मलोंसे रहित है। नोकर्म मायने शरीर। यह शरीर नोकर्म क्यों कहलाता कि मेरे आत्माके भावोंकी दृष्टिमें यह शरीर निमित्त नहीं है, किन्तु कर्मके उदयमें यह सहकारी है। तो जो निमित्तका सहयोगी हो उसको नोकर्म कहते हैं। कर्म हैं ज्ञानावरणादिक ८ कर्म। उनसे मैं आक्रान्त हूं। भावकर्म हैं—मेरे शुद्ध ज्ञानपरिणामको छोड़कर जितनी भी तरगें उठती है वे सब तरंगें भावकर्म कहलाती हैं। देखिये—यह मैं परमात्मस्वरूप भगवान चैतन्यमूर्ति आनन्दधाम आत्मदेव स्वभावतः शान्त हूं। मेरेको कोई कष्ट

नहीं, स्वरूप कष्टरहित है, लेकिन जब मैं अपना आनन्द ही नहीं चाह रहा हूं, दुःख ही पसंद करता हूं तो हम दुःखी हुआ करते हैं। एक क्षणको एक साहस बनाकर ऐसा ज्ञान बनायें कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं। मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है और यह मैं ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं. ज्ञान ज्ञानप्रकाश है सो ही मैं आत्मा हूँ। इस तरहकी एक दृढ़तासे दृष्टि तो बने, वहाँ जो आनन्द प्राप्त होगा वह आनन्द बाहरमें किसी भी विषयसाधन में, किसी भी स्थितिमें न होगा। ज्ञानका आनन्द एक विलक्षण आनन्द होता है।

(३१) ज्ञानानन्दकी अनुपमता—

जैसे किसी बच्चेसे एक छोटासा गणितका सवाल पूछा जाय—बताओ ८×७= कितने होते हैं? तो जब तक वह उसका उत्तर न दे लेगा तब तककी उसकी शक्ल देखो—वह कितना चिन्तातुरसा रहता है, वह कुछ सोचता है, विचारता है, और जब सोचते-सोचते उत्तर आ गया—८×७=५६, तो उस उत्तरके साथ उसका चेहरा देखो—कितना प्रसन्नतासे भर जाता है। वह एक ऐसी अद्भुत प्रसन्नता है कि ऐसी प्रसन्नता मिठाई खानेसे भी नहीं आ सकती। किसी अन्य विषय प्रसंगमें नहीं हो सकती। उसकी जाति ही अलग है। शुद्ध सच्चा ज्ञान जगनेपर जो आनन्द जगता है उसकी जाति निराली है और किसी खाने-पीने विषय आदिक

में जो प्रसन्नता होती है, जो सुख होना है वह सुख कुन्द सुख है, ज्ञानके आनन्दकी तरह प्रकट स्फुट सुख नहीं है। यह बात आप अपने अनुभवसे समझ लो। जिसको बाहरमें कोई काम करनेका विकल्प नहीं है और किसी परपदार्थकी चिन्ता भी नहीं है और बैठा हुआ है, उससे कोई पूछे कि भाई कैसे बैठे हो ? तो वह कहता है हम बड़े आनन्दमें बैठे हैं। अरे न कुछ खा-पी रहा, न कोई विषय भोग रहा, वहाँ आनन्द किस बातका ? अरे उसे कोई बाहरी विकल्प नहीं है, उससे कह रहा है कि हम बड़े आनन्दमें हैं। तो आनन्द इस आत्मामें स्वभावसे है और आनन्द स्वभाववान आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें वह शुद्ध आनन्द प्रकट होता है।

(३२) विभक्त एकत्वगत अन्तस्तत्त्वका परिचय—

मैं आनन्दस्वरूप आत्मद्रव्य कर्मसे निराला हूँ अर्थात् कर्म पौद्गलिक हैं, मै चैतन्यस्वरूप हूँ, कर्मसे निराला हूँ, भावकर्मसे निराला हूँ, मेरा स्वभाव केवल एक ज्ञानप्रकाशका है, अनाकुल रहनेका है। विषयकषायोंका परिणाम मेरा स्वरूप नहीं है। यह नैमित्तिक भाव है। कर्म उदयमें आये उनकी यह झाँकी है, ये मेरे स्वरूप नहीं। मैं भावकर्मसे निराला हूँ, देहसे निराला हूँ, इस तरह तीन प्रकारके कर्ममलों से निराला जो अपने आत्माको देखता है वह ही वास्तवमें आत्माके स्वरूपको जान पाता है। "मैं हूँ" ऐसा तो सब कोई

कह देते हैं, पर मैं सहज निरपेक्षतया अपने आप अपनी सत्ता से कैसा हूं—यह बात वही समझता है जिसको विशुद्ध ज्ञानानुभूति प्राप्त हुई है। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसिवाय और कुछ नहीं हूं—जिसने ऐसा जाना उसकी एक समस्या हल हो गयी। मैं बाहरमें कुछ करता नहीं, बाहरमें कुछ भोगता नहीं, बाहरकी कोई चीज मेरी नहीं। मैं सबसे निराला एक ज्ञानमात्र भावका ही करने वाला, इसको ही भोगने वाला एक अमूर्त स्वरूप हूँ। जैसे आकाश है। आकाशमें किसी चीजका लगाव तो नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त है, इसी तरह मेरा स्वरूप, मेरा ज्ञानभाव अमूर्त है, उसमें कोई लगाव तो नहीं है, मगर यह जो बंधन लग बैठा है तो यह मेरे विकल्पके कारण लग बैठा है। मैं आकाशकी तरह अमूर्त तत्त्व हूँ। हाँ इतनी बात अवश्य है कि आकाशमें चेतना नहीं है और मुझमें चेतना है। ऐसा जो अपनेको सबसे निराला जानता है वह आत्मज्ञानी पुरुष है।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानाहीना न पश्यन्ति निजदेहे व्यवस्थितम् ॥६॥

(३३) आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वका ध्यानहीन पुरुषों द्वारा अदर्शन—

मेरे आत्माका स्वरूप आनन्द है और मैं अपने देहमें ऐसे ही व्यवस्थित रूपसे रह रहा हूं, लेकिन जो आत्माके

ध्यानसे रहित है वह पुरुष अपने देहमें रहता हुआ भी आनंद-स्वरूप आत्माको नहीं देख सकता। जैसे दूधमें घी है कि नहीं ? भैंसका दो किलो दूध निकाला गया तो इसमें करीब २ छटांक घी निकलेगा, यह बात सबको मालूम है, तभी लोग उसे दही बनाकर मथकर निकाल लेते हैं। उनको क्या यह पता नहीं है कि दूधमें घी है। सब जानते हैं कि दूधमें घी है, मगर आँखोंसे देखकर या हाथसे उठाकर या चखकर क्या कोई बता सकता कि यह देखो इसमें घी रखा है ? नहीं बता सकता, ऐसा अप्रकट है, लेकिन घी दूधमें पड़ा हुआ है अन्यथा घी निकले कहाँसे ? अगर दूधमें घी न हो तो अनेक उपाय करके भी घी नहीं निकाला जा सकता। इससे सिद्ध है कि दूधमें घी है, मगर उसकी विधि है, जिस तरहसे वह निकाला जाता है उस तरहसे निकलेगा। इसी तरह मेरे आत्मामें पर-मात्मस्वरूप है, वह परमात्मस्वरूप आँखों न दिखेगा, हाथोंसे ग्रहणमें न आयगा, लेकिन उसमें परमात्मत्व देखनेकी विधि है, और परमात्मत्व प्रकट करनेकी विधि है, उस विधिसे कोई चले तो वह परमात्मस्वरूप प्रकट होगा।

(३४) मोक्षमार्गके लिये प्रारम्भिक कदम तत्त्वज्ञान—

परमात्मस्वरूप प्रकट करनेकी विधि तो सीधे बातोंमें लिखी है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। यह है विधि उस परमात्मस्वरूपको प्रकट करनेको। अब वह विधि पुरुषार्थ

से बनती है । हम उद्यम करें । सबसे पहिला उद्यम है तत्त्वज्ञान । हम वस्तुस्वरूपका ज्ञान बनायें । यहाँसे प्रारम्भ होगी मोक्षमार्गकी विधि । बताया गया है कि जब ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो तब सम्यग्दर्शन हो और सर्वप्रथम तो उपशम होता है तो उस उपशम होनेका भी कोई कारण तो होना चाहिए । जैसे जीवके परिणाम बननेमें कर्म निमित्त हैं उसी प्रकार कर्मकी दशा बननेमें जीवका परिणाम भी निमित्त है । कर्मका बंध होनेमें आत्मपरिणाम निमित्त है ना, रागद्वेष करे तो कर्मबन्ध हो । तो इसी तरह कर्मका उपशम होनेमें भी आत्मपरिणाम निमित्त है तो वह कौनसा परिणाम निमित्त है ? वह है तत्त्वज्ञान । वस्तुस्वरूपका अभ्यास बनाये, ज्ञान बनाये, धीरे-धीरे परिवर्तन होगा और वह कला आ जायगी कि परिणाम भी कुछ उपशान्त हो जायेंगे । तो सबसे पहिला उपाय है तत्त्वज्ञान । यह पहिली सीढ़ी है । मोक्षमार्ग पानेके लिए हमारा पहिला कदम है कि हम सही-सही वस्तुस्वरूपका ज्ञान बनायें । अब कोई सोचे कि हममें इतनी शक्ति नहीं, योग्यता नहीं, मन नहीं लगता, कैसे तत्त्वज्ञान पैदा करें ? तो भाई कहनेकी बात तो यह है कि हम आप सबमें शक्ति है, तत्त्वज्ञान बनायें, सम्यक्त्व पैदा कर लें, ऐसी इस मनुष्यमें शक्ति है । जिस ज्ञानका हम उपयोग बड़ी-बड़ी समस्यावोंके सुलझानेमें कर लेते हैं, बाहरी झगड़े निपटानेमें कर

लेते हैं, आविष्कारमें, बड़ी व्यवस्थाओंमें कर लेते हैं उसका उपयोग हम अपने आपके स्वरूपके जाननेके लिए करें तो क्या कर न सकेंगे ? स्वरूपकी ओर हमारी दृष्टि हो, हम उसको जाननेके लिए उद्यमी बनें तो यह काम उससे भी सरल है जो बाहरी व्यवस्था बनाते, आविष्कार आदि करते ।

(३५) आत्मस्वरूपपरिचयकी स्वाधीनता व सुगमता—

अपने आत्माके स्वरूपका परिचय करना अन्य बाहरी कार्योंकी अपेक्षा सुगम है । वह कार्य ज्ञानसाध्य है, मगर उसके साथ अंतःसंयम भी लगा हुआ हो । बाहरी पदार्थोंका विकल्प न करें और केन्द्रित होकर अपने ज्ञानको अपने आत्मस्वभाव की ओर लायें, ऐसा संयमन बनाये बिना हम उस अनुभूतिको ही पा सकते । तो सामर्थ्य हम आप सबमें है– तत्त्वज्ञान करें, सम्यक्त्व करें, मुक्तिका मार्ग अपनायें । सामर्थ्य है, थोड़ा इसके लिए रुचि चाहिए और रुचि होनेके कारण दो हैं— (१) सत्संग, (२) स्वाध्याय ।

देखिये—जैसे चींटी भींतपर चढ़ती है तो वह कई बार नीचे गिरती है, फिर ऊपर चढ़ती है, यों वह अपना चढ़ना बन्द नहीं करती है, अन्तमें चढ़ ही जाती है, इसी तरह हम आपको धर्मके मार्गमें बढ़ते हुएमें बीच-बीचमें अनेक विघ्न आते हैं, मन बिगड़ता है, फिर मन तैयार होता है, फिर भाव बिगड़ते हैं, फिर साहस जगता है कि हम आत्म-

तत्त्वका स्वाद लें, यों धर्मके मार्गमें बढ़ते रहें, अपने साहसको न खो दें तो एक दिन धर्ममार्गमें अवश्य आगे बढ़ जायेंगे। मुक्ति पानेका उपाय एक यही है कि आत्माकी श्रद्धा बनायें, आत्माका ज्ञान करें और आत्मामें रमण करें। संकटोंसे छूटनेका अन्य कोई उपाय नहीं। वहाँ एक उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है। जीवकी कितनी ही प्रकारकी स्थितियाँ बनें उनसे जीवका कोई हानि लाभ नहीं, किन्तु एक आनन्दकी स्थिति बने वह तो लाभ है और आनन्द मिट जाय तो वह इसकी हानि है। आनन्द तो आत्माका स्वरूप ही है और वह इस समय मेरे देहमें बराबर व्यवस्थित है, वह स्वरूपसे बाहर कहीं नहीं ढूंढ़ना है, कहीं भी व्यग्रता नहीं करना है, मगर ध्यानसे रहित पुरुष अपने आपमें मौजूद होकर भी उसको समझ नहीं सकते।

(३६) अन्तः ध्यान द्वारा अन्तः स्थित आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धि—

जैसे किसीके हाथकी मुट्ठीमें मुदरी है और वह भूल गया, अपनी मुट्ठाको भी नहीं देखता और ख्याल ऐसा आ रहा कि मेरी मुदरी न जाने कहाँ गई? वह उस मुदरीको यत्र-तत्र ढूंढ़ता फिरता है। उसकी दाहिने हाथकी मुट्ठी बँधी है और उसीमें मुदरी है, पर उसका उसे कुछ ख्याल ही नहीं हो रहा। और दिन तो अपने सन्दूकको वह दाहिने हाथसे

खोलता था, पर उस समय वह बायें हाथसे खोलता है। कहीं मुदरी न दिखनेसे वह बड़ा हैरान होता है। और जब कभी वह अपने दाहिने हाथकी मुट्ठी खोलकर देखता है तो उसे उसकी मुदरी मिल जाती है। (देखिये—हो जाता है कभी ऐसा, आखिर ध्यान ही तो है) और जब वह अपनी मुदरी पा लेता है तो बड़ा प्रसन्न होता है। ठीक इसी तरह वह परमात्मस्वरूप, वह ज्ञान, वह आनन्द, वह सर्वस्व वैभव जिसे हम बाहर-बाहर ढूँढ़कर बहुत हैरान हो रहे हैं वह है कहां? कहीं बाहर नहीं है। वह है अपने आपके अन्दर। जरा अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि गई, लो मिल गया वह परमात्म-स्वरूप, बस प्रसन्न हो गया। तो अपना यह निर्णय बनायें कि मेरा आनन्दधाम, मेरा सर्वस्व भगवान आत्मा, मेरा उत्कृष्ट वैभव सब कुछ मेरे स्वरूपमें है, बाहरमें नहीं। मेरेमें आनन्द न हो तो बाहर कहांसे मिलेगा? पत्थरमें आनन्द नहीं है तो उसे कहाँ मिलता आनन्द? मैं आनन्दस्वरूप हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, परिपूर्ण हूं, कृतार्थ हूं, मेरेको करनेको कुछ नहीं पड़ा है, प्रभुकी तरह मेरा स्वरूप है। जैसे प्रभु कृतकृत्य हैं, आनन्द-मग्न हैं, समस्त विश्वके जाननहार हैं वैसा ही स्वरूप मेरा है। बाहरमें सुखका भ्रम न करें। बाहरमें अपना कुछ मत देखें। अपनेमें अपना ही सब कुछ मिलेगा। ऐसा आनन्द मेरे आत्माका स्वरूप है। जरा दृष्टि देनेपर, उसका ध्यान बनाने

पर वह तत्त्व मुझे प्राप्त हो सकता है ।

तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते ।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥१०॥

(३७) परमात्मतत्त्वकी सहज आनन्दमयता—

मैं आत्मा सहज तो परमानन्दस्वरूप हूं और बनावट में मैं कष्टरूप हूं । कष्ट तो बनाये जाते हैं, आनन्द इसमें सहज पाया जाता है । जितने भी लोग सुखकी चेष्टा करते हैं और सुख महसूस करते हैं वह भी बनावट है, आत्माका सत्य स्वरूप नहीं है अर्थात् सुख दुःख जो संसारके माने गए हैं वे सब क्लेश हैं औदयिक हैं । जहाँ आत्माकी सुध नहीं, जहाँ निराकुलता नहीं वे सारी स्थितियाँ कष्टकी मानी जाती हैं । यह जीव कर्मसे दबा हुआ है । इसकी सारी स्थितियां कष्टमय हैं । यह जीव मरकर दूसरी गतिको जाता है तो रास्तेमें भी इसके कष्ट वाली स्थिति है । यद्यपि वहाँ शरीर नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, कोई विषयसाधन नहीं है, केवल जीव है और उसके साथ कर्म लगे हुए हैं । जिस शरीरको छोड़ा वहीं छूट गया, जिस शरीरमें जायगा, जब उत्पत्तिके स्थानपर पहुंचेगा वहाँ प्राप्त हो गया, लेकिन रास्तेमें वह निरन्तर कष्टमें है, क्योंकि कर्मोंसे आक्रान्त है और यहाँ भी जो बड़ेसे बड़े सुख की हालत कही जाती हो, मौज है, घरके लोग हैं, आज्ञाकारी हैं, ऐसा वैभव है, लोग इज्जत करते हैं, जो भी लोकमें बड़े

सुखकी स्थिति कही जाती हो वहाँपर भी इस जीवको कष्ट ही कष्ट है, लेकिन किसीको १०५ डिग्री बुखार हो और रह जाय १०२ डिग्री बुखार, उससे कोई पूछता है कि अब कैसी तबीयत है ? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है।.... अरे कहाँ ठीक है ? अभी १०२ बुखार तो है। तो कुछ बुखार कम हो जानेसे जैसे लोग आराम कहते हैं इसी प्रकार संसारके दुःखोंमें कुछ कमी आ जानेको लोग सुख कहा करते हैं। वास्तवमें दुःख तो वहाँ भी है। अधिक दुःख न रहा, दुःख कम रहा उसे लोग सुख माना करते हैं। वास्तविक आनन्द तो वह है जहाँ रंचमात्र भी दुःख नहीं है। ऐसा आनन्द कहाँ है ? प्रभुकी स्थितिमें।

(३८) आत्माकी परमात्मरूपता—

यही आत्मा है प्रभु। और प्रभु किसे कहते हैं ? यह ही आत्मा जब खालिस मात्र रह जाय, इसके साथ शरीर कर्म और विषयकषायके ये भाव न रहें, खालिस ज्ञानज्योति ही आत्मा रह जाय उसका नाम है परमात्मा। तो मैं तो खालिस ही हूं स्वरूपसे मायने मेरे स्वरूपमें कोई दूसरी चीजका स्वरूप पड़ा हुआ नहीं है। मेरी सत्ता है, वही मुझमें है, खालिस तो मैं अब भी हूं, लेकिन संयोग बना है, इससे विपरीत प्रभावित हो गया। तो यह श्रद्धा रखनी चाहिए कि जब मैं आत्मा हूं और केवल अपना स्वरूप रखता हूँ तो नियमसे मैं केवल हो सकता हूँ याने मैं परमात्मपद प्राप्त कर सकता हूँ।

अब जीवनमें यह निर्णय कर लें तो मनुष्यजीवन सफल हो जायगा। मुझे तो परमात्मपदकी प्राप्ति करनी है, एक ही प्रोग्राम है और बाकी तो यहाँ रहते हैं, करने पड़ते हैं, किए जा रहे हैं, पर उद्देश्यमें एक ही बात रहे कि मुझे तो परमात्मस्वरूप होना है, अगर यह भीतरमें बात आ गई तो यह ही सम्यक्त्व हैं, यह ही ज्ञान है और इसीमें जीवनकी सफलता है। परमात्मस्वरूपकी बाट अब तक किसीने नहीं जोही, किसीने प्रतीक्षा नहीं की कि मैं परमात्मस्वरूप बनूँ। उसकी बाट जोहें तब ऐसी स्थिति आये कि मैं परमात्मपद प्राप्त करूँ। और यह बाट तब ही जोही जा सकती है जब भीतरमें यह बात बसी हो कि मैं आत्मा हूँ। शरीर तो लगा हुआ है, यह शरीर सदाके लिए अलग हो सकता है। कर्म तो लगे हुए हैं, भिन्न हैं, दूसरी चीज हैं। ये सदाके लिए अलग हो सकते हैं। और जब कर्म अलग हो जायेंगे तो जितने ये विकल्प विचारकी तरंग उठती हैं, ये कर्मकी झाँकी हो तो हैं। जहाँ कर्म दूर हो गए तो फिर विषयकषाय ही कहाँ ठहरेंगे? जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथकी छाया आयी, और हाथ हटा लिया तो वह छाया अलग हो गयी, ऐसे ही ये कर्म और शरीर जो कि भिन्न चीज हैं, ये अलग हो ही जायें तो फिर ये विभावपरिणाम, विकारभाव कहाँ रहेंगे? जब ये तीन चीजें न रहो, शरीर न रहा, कर्म न रहा और विभाव

की झाँकी न रही तो यह ही परमात्मा हो गया।

(३६) परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिकी विधिमें अपना कर्तव्य—

परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिकी विधि यह है कि पहिले यह मान तो लें कि मैं खालिस आत्मस्वरूप हूं और ये सब लगी हुई चीज हैं। देह मैं नहीं हूं, कर्म मैं नहीं हूँ, कषाय मैं नही हूँ। इतना जो मनमें कोई विचार बनाता है और उन विचारोके माफिक दूसरा कोई जब नहीं चलता है तो क्रोध आता है। क्यों क्रोध आता है? इस कारण कि जैसे कोई शरीरको माने कि यह मैं हूँ, इसी प्रकार विचारोंको मान लिया कि यह ही मैं हूँ। वस्तुतः विचार मैं नहीं हूँ, विचार तो विकार है, तरंग है, विभाव है, विचार भी मैं नहीं हूँ। जो अपनेको शुद्ध चैतन्यस्वरूप समझेगा उसको कषाय न जगेगी। पहिले यह विश्वास करना होगा कि मैं अनादिसे अनन्तकाल तक अपने स्वरूपमात्र हूं, बाकी तो सब संयोग है। यह संयोग दूर हुआ कि मैं परमात्मा हो गया। मैं परमात्मा हो सकता हूं, परम कल्याण, परम आनन्द। उत्कृष्ट शान्ति, पूर्ण पवित्रता परमात्मपदकी स्थितिमें ही है, अन्य स्थितियोंमें नहीं है, तो ऐसा अपनेको परम आनन्द स्वरूप निरखना, सबसे निराला चैतन्यस्वरूप मात्र निरखना, यह ध्यान बनाना है। तो ऐसा ध्यान भव्य जीव करते हैं, और इस ध्यानके प्रतापसे मन विलीन होता है।

देखो—हम आपको सारी परेशानी मनके द्वारा ही हो रही है। मन जहां निष्क्रिय हुआ वहाँ अन्तर्दर्शन होता है और जब तक यह मन चंचल है, अपनी क्रिया कर रहा है तब तक इसको आकुलता बनी हुई है। अब ऐसा कुछ साहस करना है कि हम इस मनको बात न मानेंगे, मनको मैं रोक दूंगा, मुझे कुछ नहीं सोचना है। कोई बातका विचार नहीं करना है। यदि धर्मका लाभ लेना चाहते हो तो एक बार कभी तो ऐसे पक्के बन जावो कि मैंने देख लिया सारा जगत। सारा संसार असार है, सब क्लेश हैं, भिन्न पदार्थ हैं। मुझे अपने मनसे किसीको नहीं सोचना है, किसीका विकल्प नहीं करना है, किसीका भी ज्ञान नहीं करना है, बस ऐसा बाह्य के ज्ञानसे शून्य तो रह जाऊँ, मनकी क्रियासे रहित तो रह जाऊँ, ऐसा कोई ध्यान तो बनावें ना अपने आपमें अपने अंतरङ्गमें परमात्मस्वरूपके दर्शन होंगे। विधि यह ही है। जो कर सके सो पार हो जाय। योगी जन करते हैं इस विधिको तो वे जगतसे पार हो जाते हैं। तो यह बात जो अपने हित की है और अपने द्वारा साध्य है करना चाहें तो कर सकते हैं।

(४०) मनको विलीन करनेके उपायका अनुशासन—

भैया! सुखके लिए अनेक उपाय किये, उनमें तो सुख न मिला, एक इस उपायको करके तो देखो—कितने विलक्षण

आनन्दका अनुभव होता है। ऐसा मन बनावें धर्मपालनके लिए हम आप प्रतिदिन डेढ़ दो घंटेका समय देते हैं, पर कोई ५ मिनट ऐसा भी समय दें मंदिरमें बैठकर या घरमें ही बैठकर या दूकान वगैरामें ही बैठकर अथवा किसी भी समय रातके समय लेटे हुए, आसनकी भी कोई आवश्यकता नहीं। कैसे ही पड़े हों, बड़ा ढीला शरीर करके पड़ जाइये और ऐसा मन बना लीजिए कि मुझे किसीका विचार नहीं करना है। कोई मेरे ज्ञानमें मत आये। ऐसा किया जा सकता है, और जब इस तरह मन निष्क्रिय बनेगा, वह बनेगा कोई एक सेकेण्डका ५०वां भाग बराबरको, लेकिन इतनी देरको भी अगर मन निष्क्रिय हो सका तो अन्तःज्ञानज्योतिके दर्शन होंगे और परमात्माकी जातिका आनन्द अनुभवमें आयगा। तब उस समय समझिये कि मुझे सम्यक्त्वका अनुभव हुआ और मैं सदाके लिए संसारके संकटोंसे पार हो जाऊँगा। इतनी बातके लिए करने पड़ेंगे बहुत-बहुत काम। एक क्षणको भी मैं मनको निष्क्रिय बनाऊँ, कुछ भी जगतके विकार पदार्थोंका विचार मनमें न लाऊँ, ऐसा बननेके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और रोज-रोज करीब आधा घंटेका इस तरहका अभ्यास, तब जाकर किसी दिन कोई क्षण ऐसा मिलेगा कि मन निष्क्रिय हो जायगा और उस समय आत्मामें विशुद्ध आनन्दकी अनुभूति होगी, ऐसा ध्यान भव्य जन करते हैं

जिसके प्रसादसे यह मन विलीन हो जाता है और उस समय शुद्ध चैतन्यचमत्कार स्वरूप यह निजब्रह्मका दर्शन होता है। आनन्द बाहर कहीं नहीं है, पर अपने आपका आनन्द तो तब मिले जब बाहरका ख्याल छूटे और केवल एक आत्माकी ही सुध हो। वैसे मोटे रूपसे यह कह सकते हैं कि भाई जब रात-दिनके २४ घंटे पड़े हैं तो २३ घटे मोह करो, राग करो, द्वेष करो, जो भी बात बनती है उसे होने दो। ये विकार होते हैं, पर कमसे कम एक घंटा समय तो ऐसा बिताओ जो इन सब बातोंसे दूर हो। अरे एक घटेको भी बात जाने दो, कोई ५ मिनटका ही समय ऐसा बिता लो कि ये जब ये कोई भी बातें चित्तमें न बसी रहें। इसके करनेमें तो कोई कष्ट नहीं। आपका घर, आपके परिजन, आपकी दूकान आदि सब वहींके वहीं हैं। कहीं कोई भागे नहीं जाते, दो-चार मिनटको तो इन सबको अपने चित्तसे निकाल दो और मनको ऐसा निष्क्रिय बना दो कि उस समय कुछ भी बाह्य बात ध्यानमें न रहें। बस इतना करनेमें तो बाहरमें कुछ नहीं बिगड़ा और भीतरमें सारा सुधार हो गया।

(४१) धर्मरुचिक पुरुषका आत्मीय आनन्द पानेका पौरुष—

धर्मको धुन बनाने वाले पुरुषो! एक बार ऐसी धुन बनाओ कि मुझे तो ऐसी स्थितिका अनुभव करना है कि जब कोई बाहरी पदार्थ मेरे ज्ञानमें न आये, चलो खुदका भी ज्ञान

मत आये। किसीका मुझे ज्ञान ही नहीं करना है, लेकिन बाहरी पदार्थोंकी जानकारी आप रखेंगे तो खुदका ही ज्ञान बनेगा। खुदका भी ज्ञान न जगे, खुदके ज्ञानकी भी इच्छा मत रखें, बाहरी पदार्थोंके ज्ञानकी भी इच्छा मत रखें! अगर नहीं बन सकता आत्माका ज्ञान तो न बने, मगर मुझे दूसरेका भी ज्ञान नहीं करना है, ऐसी जानकारीमें शून्य बन सकें तो आत्माकी जानकारी बनेगी और आत्मीय आनन्दका अनुभव होगा। क्या है यह? चैतन्यचमत्कारमात्र। सिद्धभगवानमें किस प्रकारका आनन्द है? मोही जन तो यह सोचते कि यहाँ न भोजन है, न मकान है, न कुटुम्ब है, न व्यापार है, न सभायें होतीं, न इज्जत है। यही तो बताया है कि सिद्धका आत्मा अकेला है, अपने आपमें है, अमूर्त है, ऐसे अनन्तसिद्ध हैं, उनको क्या सुख होता होगा? लेकिन ऐसा वे ही लोग सोच सकते हैं कि जो दुःखको ही सुख मान रहे। थोड़ा दुःख कम हुआ तो उसे सुख मान लेते हैं। कोई वैषयिक सुख मिला या और प्रकारके दुःख न रहे, कम हो गए तो उसीको ही सुख मान लिया।

अरे वास्तविक आनन्द तो सिद्धप्रभुमें ही है, क्योंकि आत्माका आनन्द ही वास्तविक सुख है, और वे निरंतर अपने को अनाकुल ही अनुभव करते रहत हैं। बाह्य पदार्थोंका अगर हम ध्यान रखते हैं, बाह्य पदार्थोंका आश्रय करते हैं तो वहाँ क्लेश हुए बिना रह नहीं सकते। कोई न कोई क्लेश होगा।

जैसे कि सभी लोग घरमें रह रहे हैं, मगर कोई न कोई क्लेश हर कोई मानता है। मेरेको यह कष्ट है, मेरेको यह कष्ट है और उन कष्टोंको दूर करनेकी कोशिश करता है कोई तो। एक कष्ट मिटता है तो दो कष्ट सामने आते हैं, यह है गृहस्थोंकी स्थिति। और असलियतमें देखो तो न वहाँ एक कष्ट है और न दो। राग बनाये हैं इसलिए कष्ट मालूम होता है। राग न हो तो किसी प्रकारका कष्ट नहीं। तो ऐसा वह सिद्धस्वरूप परम आनन्दस्वरूप है, निरन्तर आनन्दका अनुभव करता है, ऐसा ही मेरा स्वभाव है, ऐसा ही मैं बन सकता हूं और ऐसा ही बननेमें कल्याण है, अन्य प्रकारकी स्थितिमें मेरा कल्याण नहीं है।

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानास्ते
दुःखहीना नियमाद्भवन्ति।
संप्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं
व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥११॥

(४२) आत्मध्यानशील मुनियोंकी कृतार्थता—

जो मुनि आत्माके ध्यानकी प्रकृति बनाये हुए है, ध्यानशील है, केवल एक आत्माकी सुध है और कषायोंका दमन कर रहा है वह मुनि नियमके दुःखोंसे रहित हो जाता है और शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके क्षणमात्रमें ही मोक्षको प्राप्त हो सकता है। धर्मके लिए केवल करनेका यही काम है

कि अपनेको देखें और परका विकल्प छोड़ें। ज्ञानानंदस्वरूप हूं मैं, ऐसा ही अनुभव करें और अनुभव क्या करना ? जब स्वयं मैं परिपूर्ण हूं, ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, बाहरमें मेरी कोई करतूत नहीं तब मुझे बाहरमें काम ही क्या रहा ? मैं बाहरमें काम ही क्या कर सकता हूं ? होता स्वयं जगत परिणाम। प्रत्येक पदार्थका परिणमन उनकी परिणतिसे हो रहा है, मैं उनमें क्या करता हूं ? किसी भी पदार्थका मैं कुछ भी काम नहीं करता। बस मेरेको कुछ भी काम नहीं पड़ा है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई वहाँ यह जीव कृतार्थ हो जाता है। देखो करनेका काम तो तब पड़ता जब कोई बात अधूरी हो। मेरे आत्माका अस्तित्व अधूरा नहीं है। "है" अधूरा नहीं हुआ करता। जो भी चीज है वह पूर्ण रूपसे है। तो मैं पूरा हूं, तब मेरेको क्या करनेको पड़ा है ? ऐसी दृष्टि जगती है। मैं ज्ञानघन हूं तो मेरे स्वरूपमें अपूर्णता है ही नहीं। जब मेरेमें कोई काम नहीं पड़ा, मैं कृतार्थ हूं, शान्त रहूं और अपने आपमें बसूं, यह स्थिति धर्मकी रहती है। बाकी जो धर्मके काम किए जाते हैं वे सब इस स्थितिके पानेके लिए किए जाते हैं।

(४३) आत्महितपूरक समीचीन लक्ष्य बने बिना धर्मलाभकी असंभावना—

देखिये—जब तक अपना लक्ष्य सही न बनेगा तब तक धर्मपालन नहीं हो सकता। जैसे कोई नाविक लक्ष्य-

विहीन होकर नाव चलाये तो कभी पूरबकी ओर जायगा, कभी पश्चिमकी ओर, कभी उत्तरकी तो कभी दक्षिणको। यों वह यत्र-तत्र ही डोलता फिरेगा, किसी भी किनारे न लग पायगा। इसी तरह किसीको जब तक अपने स्वरूपका सही-सही लक्ष्य न हो कि मुझे क्या बनना है, क्या पाना है, कहाँ रमना है, कहाँ दृष्टि देना है? तब तक धर्मके नामपर कितनी ही बाह्यक्रियायें की जायें, कितने ही धर्मके नामपर कष्ट किए जायें, पर वे लाभकारी नहीं हो सकते। और एक अपना सही लक्ष्य बन जाय, अपनी दृष्टि बन जाय तो ये ही सारे काम हमारे धर्मपालनके कार्यमें सहयोग देने लगेंगे। वही दर्शन कर रहे उससे मुझे लाभ हो रहा, क्योंकि मैंने अपना लक्ष्य सही बना लिया कि प्रभु क्या है, मैं क्या हूं, सार क्या है? जब यह लक्ष्य बन गया तो देवदर्शन करें तो उससे भी लाभ, सामायिक करें तो उससे भी लाभ, तीर्थयात्रा करें उससे भी लाभ। जो भी काम करेंगे धर्मके लिए उन सबसे लाभ पाते जायेंगे और एक दृष्टि न बने, लक्ष्य न हो सके, स्वरूपका ज्ञान न हो सके तो बड़े-बड़े दर्शन, तीर्थयात्रा, जाप, उपवास आदिकके धार्मिक कार्य करके भी उनसे कोई खास लाभ नहीं उठाया जा सकता। वे तो एक तफरी जैसा करना रह जाता है। हाँ अन्तर यह है कि लोग गंदी बातोंमें तफरी करते, ये सभ्य जन धर्मके नामपर क्रियायें करते। तो अपना लक्ष्य

यदि शुद्ध नहीं बना तो बाह्य धर्मपालनसे कुछ लाभ नहीं मिल सकता।

यह बात करनी कोई कठिन नहीं है। सब कोई सुगमतासे कर सकते हैं। गृहस्थ भी कर सकते, योगी भी कर सकते। अपना लक्ष्य विशुद्ध बनाये बिना धर्ममें प्रगति नहीं हो सकती। तब ही तो देखो किसीको २० वर्ष हो गए, किसी को ५० वर्ष हो गए धर्म कार्य करते हुए, पर कोई उससे खास लाभ नहीं उठा सके। खैर कोई खेदकी बात नहीं, भला उससे यह तो फायदा उठाया कि बुरी जगह तो नहीं भटके। जैसे कि अनेक लोग व्यसनोंमें रहते, अनेक उद्दण्डताओंमें रहते, भला उनसे तो बचे। अब मानो आजसे ही सही, यदि बात ठीक ठीक समझमें आ जाय तो भला उससे कृतार्थ तो हुए, लक्ष्य तो बना, दृष्टि तो बनी। तो उन बीसों, पचासों वर्षोंसे जो एक धर्मपालनकी पद्धति चली आ रही थी उससे लाभ ही तो हुआ। मानो उन बीसों, पचासों वर्षोंमें कुछ लाभ न हुआ, किन्तु जिस दिनसे आपका यह लक्ष्य बना, दृष्टि जगी कि मुझे तो यह करना है, सारभूत चीज तो यह है, बस उस दिनसे आपको धर्मलाभ हुआ। तो ऐसा उस आत्माका जो निरन्तर ध्यान बनाये रहता है, ऐसा जो ध्यानशील है वह मुनिश्रेष्ठ न है और वह दुःखसे रहित हो जाता है। तो वह पुरुष शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके क्षणमात्रमें मोक्षअवस्थाको

प्राप्त होता है ।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं,
समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं
जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥ १२ ॥

(४४) आनन्दरूप परमात्मतत्त्वमें निवास करने वाले योगियों का प्रकट ज्ञानित्व—

यह परमात्मतत्त्व परमात्माका स्वरूप, परमात्माकी कथा, आनंदस्वरूप है और मेरे स्वभावमें एक परमात्मतत्त्वका स्वरूप है वह आनन्दरूप है और समस्त संकल्प-विकल्पजाल से रहित है । देखो आनन्द सबके पास है । मगर जो विकल्प बनाया है, शल्य बनाया है, चितायें बनायी हैं, हमने आनन्द का घात किया और वह व्यर्थकी चिंता, ऐसी हिम्मत बनायें कि बाह्य पदार्थ चाहे रहें, चाहे जो कुछ भी स्थिति हो, मैं आत्मा तो पूरा हूं, मुझमें न किसी बाह्य पदार्थके मेलसे बड़प्पन आता है और न उसके जानेसे आत्मामें घटती आती है । मैं तो बाह्य पदार्थोंके प्रभावसे दूर हूं, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूं, ऐसी दृष्टि बने तो फिर चाहे सैंकड़ों प्रसंग आ जायें उनसे इसको विवाद नहीं हो सकता । यह परमात्मतत्त्व आनन्दस्वरूप है, सारे संकल्प विकल्पोंसे रहित है, सो जो पुरुष ऐसे अपने निज स्वरूपमें स्वभावलीन होकर रहा करता है वह

योगी है, और वह स्वयं ही उस परमतत्त्वको जान लेता है। श्रद्धा यदि अपने आपके स्वरूपकी पूर्ण रूपसे बनी है तो नियमसे संसारके सकल संकटोंसे छुटकारा मिल सकता है।

एक सेठ अपने चैत्यालयमें भगवानकी मूर्ति विराजमान करके रोज पूजा करता था। वह पहिले तो गरीब था, लेकिन बादमें धनाढ्य हो गया। बीसों वर्ष उसे पूजा करते हो गए। अब एक बार चोर डाकू उसके घरमें घुसे और सेठ को पकड़ लिया, कहा कि अपना सारा धन बताओ—धन भी लेंगे और तुम्हारी जान भी लेंगे। तो वह बोला—ठीक है, आप लोग खुशी खुशीसे हमारा धन भी लें और जान भी लें, इसकी परवाह नहीं है, मगर एक चीज आप लोगोंसे मैं माँगता हूं वह दे सकें तो दे दें।....क्या ? देखो—इस प्रभुकी मूर्तिको मैंने बीसों वर्ष तक अपने हाथोंसे पूजा है। मैं इसको पासकी नदीमें सिरवा आऊँ, ऐसी इजाजत दे दें, फिर बादमें आप लोग खुशी खुशीसे हमारा धन भी ले लें और जान भी। सो रातका ही तो समय था। डाकुवोंने उसकी बात स्वीकार कर ली। दो डाकुवोंको उस सेठके साथ कर दिया। चले गए नदीमें उस मूर्तिको सिरवानेके लिए। जब वह नदीमें उस मूर्तिको सिराने वाला था तो गद्‌गद वाणीसे बोला—हे प्रभो ! मैंने आपकी बीसों वर्ष तक पूजा की, आज मैं मरणको प्राप्त हो जाऊँगा, सो मुझे मरणका भी भय नहीं, धन लुटनेकी भी

पर परवाह नहीं, पर इस बातका खेद है कि दुनियामें यह अपवाद होगा कि देखा अमुक सेठने अनेक वर्षों तक भगवानकी पूजा की, पर उसका यह परिणाम हुआ कि उसका धन भी लुटा और जान भी गई। तो उस समय आकाशवाणी हुई कि देख फल तुझे मिल चुका। जो चार डाकू तुझे मारने आये हैं उन्हें पिछले भवमें तूने मारा था। उसके फलमें तुझे इन चारोंके द्वारा चार बार मरना था, लेकिन पूजा करनेका ही यह फल है कि तुझे चार बारके बजाय एक ही बारमें चारों मिलकर मारने आये हैं। यों तेरी तीन मौतें इस पूजाके प्रभावसे ही कट गई हैं। इस बातको सुनकर वे तीनों डाकू सोचने लगे कि अभी इस मूर्तिको मत सिरवाने दो, इसे वहीं ले चलो और अपन चारोंमें जो सलाह होगी सो किया जायगा। वे वापिस ले गए सेठको। उन दोनों डाकुवोंसे सारी बात कह सुनायी। अब चारों डाकुवोंने विचार किया कि देखो पूजा करनेके प्रभावसे जब इसकी तीन मौतें कट गईं तो क्या अपना चार लोग मिलकर इसकी एक मौत नहीं काट सकते? आखिर उन डाकुवोंने सेठको छोड़ दिया और वापिस लौट गए। यह एक श्रद्धाकी ही तो बात है। श्रद्धा यदि एक णमोकार मंत्रकी हो तो इसके ध्यानके ही प्रसादसे अनेक संकट दूर होते हैं। फिर जिसे अपने आत्माकी ही श्रद्धा है कि मम स्वरूप है सिद्ध समान और ऐसा मैं हो सकता हूं, मेरे

जन्ममरणके संकट छूटना और परमात्मस्वरूप प्रकट होना मेरे लिए स्वाधीन है, सुगम है, नियमसे हो जायेंगे। तो जो ध्यानशील पुरुष इस परमात्मतत्त्वका ध्यान करता है वह दुःखहीन होता है इसी भवमें और शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त होता है।

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयम्।
अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसङ्गविवर्जितम् ॥ १३ ॥

(४५) **परमात्मतत्त्वकी चिदानन्दमयता**—योगी पुरुष जिस सहज पवित्र परमात्मतत्त्वका ध्यान किया करते हैं और जिस ध्यानके प्रसादसे निरन्तर प्रसन्न रहा करते हैं वह परमात्मतत्त्व क्या है ? यहाँ उसी परमात्मतत्त्वका स्वरूप कहा जा रहा है, उसे सब अपने आपके चित्तमें निरखनेकी कोशिश करें। वह परमात्मस्वरूप है चिदानन्दमय अर्थात् ज्ञानदर्शनस्वरूप और आनन्दस्वरूप। मैं आत्मा एक ज्ञानपुञ्ज हूं। जाननेका निरन्तर काम किया करता हूं। चेतना है और चेतना सामान्यविशेषात्मक है। अर्थात् यह खुदका भी प्रतिभास करता है और बाह्य पदार्थोंका भी ज्ञान करता है, ऐसा यह ज्ञान दर्शनात्मक मैं आनन्दस्वरूप हूं। जब किसी परवस्तु से लगाव न हो, परको पर जानकर उससे उपेक्षाभाव हो जाय तो अपने आपमें स्वयं ऐसी दृष्टि बनती है कि जिसमें यह अनुभव होता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरेपर किसीका भार

नहीं, मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं, कृतार्थ हूं, मेरे करनेको कुछ काम नहीं पडा है। मैं कृतकृत्य हूं। सर्वसिद्धिसम्पन्न हूं, ऐसा बोध होता है। लेकिन जब इस जीवके रागभाव बढ़ता है तो अपनेको दीन हीन अधूरा, बडी दुर्दशाको प्राप्त होता है। देखो—ये सब बातें एक अपनी दृष्टिके आधीन हैं। भीतर में देखो तो सुख साम्राज्य है और बाहरमें देखो तो सब दुःख और विपत्तियाँ हैं। हम आपपर यह विपत्ति है कि बाहर दृष्टि बन रही है, बाहरसे ही परिचय बन रहा है। बाहरकी ओर ही खिचाव बन रहा है। स्वयं परिपूर्ण है, आनन्दधाम है किन्तु स्वयंमें विश्राम नहीं बना पाता, यह एक मात्र विपदा है। दुनियामें विपत्तिके अनेक काम पड़ गए हैं। कोई कहता कि मैं स्त्री न होनेसे दुःखी हूं, कोई कहता कि मैं स्त्रीके प्रतिकूल होनेसे दुःखी हूं। कोई मानता कि मैं निर्धनता से दुःखी हूं। कोई धनकी व्यवस्था न कर सकनेसे दुःख मानता। दुःखकी सैंकड़ों किस्में बना रखी हैं, मगर वे सैंकड़ों किस्में नहीं हैं। केवल एक किस्म है, वह क्या है कि परवस्तु मे हमारी दृष्टि गई। परसे कुछ मतलब न होना चाहिए था, क्योंकि वह पर है, मेरेसे उसका कुछ सम्बन्ध है नहीं, लेकिन उसकी ओर राग गया, बस यही मात्र दुःख सब जीवोंको लगा हुआ है, फिर चाहे दुःखकी स्थितियोंके वे अनेक नाम धर लें,

पर दुःख हैं सबको एक ही किस्मके। जितने भी मजहब वाले हैं, जितने प्रकारके मनुष्य हैं, सबको दुःख एक किस्मका लगा हुआ है। परवस्तुमें राग जाता है और अज्ञान बना है। अब वे चाहें उस दुःखको किसी तरह महसूस करें, पर जड़में सबके दुःखमें बात एक ही पड़ी है। चाहे भिखारी हो, चाहे धनिक हो, चाहे लखपति हो, चाहे कोई छोटा दास हो, सभी के चित्तमें परवस्तुओंके प्रति राग और मोहका दुःख है। ये राग मोह जो कि औदयिक हैं, विभाव हैं, कर्मकी छाया हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, न करें तो यहाँ कोई जबरदस्ती नहीं कर सकता कि तुम क्यों शान्त बैठे हो, तुम क्यों क्रोधादिक कषायें नहीं करते हो, यों किसीकी भी कोई मेरे ऊपर जबरदस्ती नहीं। अरे मैं ही अज्ञानसे अपनी कल्पनायें बनाकर क्रोधादिक किया करता हूं और दुःखी होता हूं। कोई ये स्वरूप मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं चिदानन्दमय हूं, चित् और आनन्दस्वरूप हूं।

(४६) परमात्मतत्त्वकी शुद्धता—मैं शुद्ध हूं। शुद्धका अर्थ है—समस्त परपदार्थोंसे निराला हूं। जैसे शुद्ध दूध—इसका क्या मतलब है कि दूधमें दूसरी चीज मिलायी न जाय और दूधकी सार चीज निकाली न जाय उसको कहते हैं शुद्ध दूध। पानी मिला हो तो वह अशुद्ध हुआ और मक्खन निकाल लिया हो तो वह अशुद्ध है। तो इसी तरह अपने आत्माको

देखो कि मेरे आत्मामें किसी परचीजका प्रवेश नहीं है। समस्त परपदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। जैसे राजा जनकके बारेमें एक कथा आयी है कि उनके पास कोई गृहस्थ जाकर बोला कि महाराज आप बड़े ज्ञानी कहलाते हैं, मैं तो उस समय गृहस्थीमें बुरी तरह फंसा हुआ हूं। गृहस्थीने मुझे बहुत फांस रखा है, स्त्री-पुत्रादिकने मुझे जकड़ रखा है, मुझे उबारो। तो उस गृहस्थकी बात सुनकर जनकने कोई उत्तर तो न दिया, किन्तु सामने जो खम्भा खड़ा था उसे अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर उससे अपनेको जकड़ लिया और कहा—ठहरो, ठहरो भाई! मैं तो इस समय बड़ी आफतमें आ गया हूं, मुझे खम्भेने खूब जकड़ लिया है। जब मुझे यह खम्भा छोड़ेगा और मुझे कुछ साता मिलेगी तब मैं तुम्हें उत्तर दे सकूंगा। तो वह गृहस्थ बोला—अरे महाराज! तुम तो बड़े मूर्ख जंचते हो, मैं तो तुम्हें ज्ञानी समझता था। अरे इस खंभे को तुमने ही खुद जान-बूझकर जकड़ लिया है और कहते हो कि इस खंभेने मुझे जकड़ लिया है। तो जनक बोले—अरे यही उत्तर तो मेरे लिए भी है। तू कहता है कि गृहस्थीने मुझे जकड़ रखा है, पर तूने ही तो अपनी कल्पनाओंसे इस गृहस्थीको जकड़ रखा है। तो तू भी तो मूर्ख है। तो यह आत्मा इन बाह्य पदार्थोंसे अपने अज्ञानसे अपने रागद्वेषसे जकड़ रहा है। कहीं कोई पदार्थ मुझे फंसाये नहीं है। भीतर

ज्ञान जगे, जकड़ाव टूटे तो यह आत्मा पवित्र बनेगा। तो मैं आत्मा स्वभावतः अपने स्वरूपसे हूं, समस्त परवस्तुओंसे अछूना हूं। और जो मेरेमें सार तत्त्व है चेतन, ज्ञान दर्शन आनन्द, वह मेरा कभी यहाँसे हटता नहीं है, अतः मैं शुद्ध हूं।

(४७) **परमात्मतत्त्व की निराकारता**—मैं निराकार हूं, मेरा कोई आकार नहीं। जैसे दीपकका उजेला हुआ तो बताओ उजेलेका कोई आकार है क्या ? उजेला गोल है कि लम्बा है कि चौड़ा है ? उसका कोई आकार नहीं है। अगर कोई गोल कमरा है वहाँ दीपक जला दिया तो उजेला गोल हो गया। मगर उजेला गोल था, इसलिए गोल हुआ सो बात नहीं, किन्तु कमरा ही गोल था, वह आश्रय गोल था, इसलिए गोल उजेला है। उजेलाका कोई आकार नहीं। उसका अर्थ है प्रकाश। इसी तरह ज्ञानप्रकाशस्वरूप यह मैं आत्मा हूं। इस ज्ञानपुञ्ज आत्माका कोई आकार नहीं, किन्तु जो कुछ यहाँ समझा जा रहा है कि मैं आत्मा देहमें हूं तो जितना लम्बा-चौड़ा यह मनुष्यशरीर है उतने शरीर प्रमाण आत्मा है और उसका आकार इस उतने शरीरके बराबर है। तो इस आत्माका स्वयंकी ओरसे यह आकार नहीं है, किन्तु ऐसा देह मिला है, उस बन्धनमें हैं, इसलिए इसका आकार मनुष्य जैसा है, और कभी जब सिद्धभगवान हो गए, तो शरीर तो न रहा, फिर भी उनका आकार रहता है। सो

वह भी आकार कहीं ज्ञानपुंजके नातेसे नहीं बना है, किंतु जिस शरीरमें था, जिस शरीरसे वह मुक्त हुआ है तो चूंकि आकार के संकोच और विस्तार होनेका कारण कर्मोदय था, अनादि कालसे यह विधि चली आयी थी, सो अब जिस शरीरसे मुक्त हुए उस शरीरसे कम आकार कौन बना दे, और बड़ा कौन बना दे ? इसलिए जिस शरीरसे मुक्त हुआ है उस प्रमाण आकार रहता है, फिर भी आत्माका जो स्वरूप है, चैतन्य लक्षण है उसकी ओरसे निरखा जाय तो आत्मामें कोई आकार नहीं है। ऐसा यह मैं निराकार हूं। इसका स्वरूप जानन है। जाननका क्या आकार ? जानना हो रहा है सर्वज्ञदेवके लोक और अलोक समस्त विश्वका। उसका क्या आकार कहा जाय ? तो यह तो निराकार हुआ।

(४८) **परमात्मतत्त्वकी निरामयता**—मैं निरामय हूँ। आत्मस्वरूपमें रोग नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानमें रोग क्या ? ज्ञानमें खाँसी आयगी क्या ? अथवा बुखार आयगा क्या ? किसी आदमीका नाम ज्ञानचन्द हो तो उसकी बात नहीं कह रहे, किन्तु आत्माका जो स्वरूप ज्ञान है उसकी बात कह रहे हैं। उस ज्ञानप्रकाशमें कहीं कोई रोग तो नहीं होता। आत्मामें कोई रोग नहीं। मैं निरामय हूं, शरीरमें रोग नहीं है, और रोग उतने माने गए हैं कि जितने शरीरमें रोम हैं उससे भी अधिक संख्यामें रोग हैं। तो शरीरमें कोई

परिणति हुई—खून बनना बन्द हो गया या फोड़ा फुंसी होने लगी या भीतर नालीमें कचरा आ गया, खाँसी बनने लगी, कुछ भी बात हो, आत्माको ये कोई प्रकारके रोग नहीं हैं, शरीरसे अपनेमें राग लगा, ममता लगी और शरीरमें हुए फोड़ा-फुँसी, बुखार आदिक तो उस राग परिणतिके कारण मैं अपनेमें दुःख मानता हूं। मेरेको बड़ा क्लेश है, और चूंकि एक क्षेत्रावगाह है, निमित्तनैमित्तिक भाव है तो ऐसा हो रहा है, इतनेपर भी शरीरकी बात शरीरमें है, जीवकी बात जीवमें है। जैसे बाहर भिन्न क्षेत्रमें ही हैं ये कुटुम्बी जन पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक। वे कहीं मेरे शरीरसे मिले हुए तो नहीं हैं, वे सब मेरेसे बिल्कुल जुदे हैं। यदि किसीको कोई रोग होता है, कष्ट होता है तो उसका दुःख उसे होता है, कष्ट होता है तो उसका दुःख उसे ही तो भोगना पड़ता है। कोई किसीके दुःखको बाँट तो नहीं सकता। हाँ उन पर जीवोंके प्रति यदि हमारे अन्दर राग लगा है तो उस रागवश हम स्वयं दुःखी हो जाते हैं। तो वह दुःख वस्तुतः हमारे रागभावके कारण है। किसी पर जीवसे दुःख नहीं आते। कुछ गहरा सम्बंध भी है थोड़ा, लेकिन स्वरूपको देखो तो आत्मा न्यारा है, शरीर न्यारा है। इस आत्मामें, इस परमात्मतत्त्वमें किसी प्रकारका रोग नहीं है।

(४९) परमात्मतत्त्वकी अनन्तसुखसम्पन्नता—यह

परमात्मतत्त्व अनन्त सुखसे सम्पन्न है, स्वयं ही आनन्दस्वरूप है, और वह अनादि अनन्त है याने उसका विनाश न होगा, उसकी कोई सीमा नहीं। जैसे यहाँ संसारके सुखोंमें हम सीमा बाँध लेते हैं कि इससे यह सुख ज्यादा अच्छा है, लेकिन जो आत्मीय आनन्द है उसमें क्या सीमा बँधेगी ? वह आनन्द क्या है ? किसी भी प्रकारकी आकुलता न होना। और संसार का सुख क्या है ? उसमें किसी प्रकारकी तरंग न होना। आत्मीय भाव जगाना। इसमें तो है खेदकी बात और जो आत्मीय शुद्ध आनन्द है उसमें खेद रंच भी नहीं है। तो वह आत्मा अनन्त आनन्दसे सम्पन्न है। आत्मीय आनन्दकी तुलना इस तरहकी है कि सारे विश्वके जितने भी बड़े-बड़े पुण्यात्मा लोग हैं इन चक्रवर्ती आदिक, उन सबका आनन्द जोड़ लो, इकट्ठा कर लो और जितने भूतकालमें बड़े पुरुष हुए हैं उनका सुख इकट्ठा कर लो और भविष्यमें जितने भी बड़े पुण्यवान पुरुष होंगे उनका सुख इकट्ठा कर लो कल्पनामें, और सब सुख मिलाकर जितना सुख कहलाता हो वह सुख इस आत्मीय आनन्दके समय न कुछ चीज है। आत्मीय आनन्द क्या ? खुदमें है आनन्द। खुद है आनन्दस्वरूप, किन्तु हैरानी कितनी है कि उस आनन्दके लिए बाहर ललचा रहे हैं। तो यह परमात्मस्वरूप, यह आत्मस्वरूप अनन्तसुखसे सम्पन्न है।

(५०) परमात्मतत्त्वकी सर्वसङ्गविवर्जितता—यह

परमात्मतत्त्व सर्वसंगविवर्जित है। जितने भी ठाठ हैं, समागम हैं सबसे यह परे है। मैं उस स्वरूप हूं। मैं दूसरा न बन जाऊँगा। कितने ही शरीरोंमें यह लगा हुआ चला आया है अनादिकालसे, फिर भी सर्व शरीरोंसे यह निराला ही रहा। सर्वसमागमोंसे यह दूर है। जिसको आत्मतत्त्वका बोध हो जाता, उस गृहस्थकी दशा बड़ी शांत निराकुल रहती है। कोई विवाद नहीं रहता। लोग विवाद करते हैं धन सम्पदाके पीछे ना। मेरा कम है, इनका अधिक है···और ऐसी दृष्टि रहती है कि जो कुछ दूसरेको मिलता है उसे वह समझता है कि यह अच्छा है और अधिक है। कुछ ऐसी प्रकृति भी बनी है उसमे झगड़ा होता है, पर ज्ञानी जीव जानता है कि धन तो भिन्न चीज है और वह पुण्यका दास है। पुण्यविपाक है तो धन आता है, नहीं है तो नहीं आता है। मेरेको कोई कम धन दे तो उससे मेरी हानि क्या और ज्यादा धन दे तो उससे मेरा लाभ क्या ? यहां ही देख लो—कितने ही लोग ऐसे हैं कि जिनकी १०-२० वर्ष पहले स्थिति बहुत खराब थी और आज बड़े धनिक हैं और कितने ही लोग ऐसे हैं जो कि १०-२० वर्ष पहले बड़े सम्पन्न थे और आज निर्धन हैं। तो यह फर्क किस बातका आया ? यह फर्क आया है पुण्यके उदय और अनुदयका।

(५१) उदय और अनुदयका सम्बंधित एक उदाहरण—

लोगोंने एक कथानक गढ़ा है कि एक बार ब्रह्मा जी एक जीव को किसी करोड़पति घरानेमें उत्पन्न कर रहे थे और उसकी तकदीरमें लिख रहे थे एक काला घोड़ा और ५ रुपये। उधर से निकले एक साधु जी। साधु बोला——भाई यह क्या कर रहे हो ?····तकदीर बना रहे हैं।···· कहाँ पैदा करोगे ?···· करोड़पति घरानेमें।···· तकदीरमें क्या लिख रहे हो ?··· एक काला घोड़ा और ५ रुपये।····अरे यह क्या अन्याय कर रहे हो ? अगर करोड़पति घरानेमें पैदा करना है तो करोड़-पति जैसा भाग्य लिखो।····नहीं, ऐसा ही करेंगे।···· अच्छा ऐसा ही करना है तो करो, हम तुम्हारी इस तकदीरको मेट-कर रहेंगे। आखिर वह बालक एक करोड़पति घरानेमें उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही उसका धन कम होने लगा। धीरे-धीरे सारा धन बरबाद हो गया। जब लड़का कुछ सयाना हुआ तो उसके पास वही एक काला घोड़ा और ५ रुपये बचे। एक दिन वही साधु उस बालकके पास आकर बोला——बेटा ! एक काम कहेंगे, क्या तुम करोगे ?····हाँ महाराज अवश्य करेंगे। ····अच्छा देखो तुम अपने इस काले घोड़ेको बेच दो। बेच दिया १००) रु० में। अब उसके पास १०५) रु० हो गए। फिर साधु बोला——इन १०५) रु० की भोजन-सामग्री मंगा-कर भिखारियोंको खिला दो। वैसा ही किया गया। अब ब्रह्माने सोचा कि मैंने इसकी तकदीरमें एक काला घोड़ा और

५) रु० लिख दिया है तो इतना तो भेजना ही पड़ेगा। सो दूसरे दिन फिर ब्रह्माने एक काला घोड़ा और ५) रु० भेजे। साधुने फिर उसे बिकवाकर भिखारियोंको खिलवा दिया। इस तरहसे करीब १५ दिन तक चलता रहा। रोज एक काला घोड़ा आये और उसे बेचकर भिखारियोंको खिला दिया जाय। अब रोज-रोज कहांसे एक काला घोड़ा आये, सो १५ दिनके बाद ब्रह्माने आकर क्षमा मांगी और वैसी ही तकदीर लिखी जैसी कि आपकी थी। तो जब पुण्योदय है तो धन आयगा ही, और जब उदय प्रतिकूल है तो धन कहांसे आये? कुछ भी हो, आखिर इन कर्मोंको बदलनेका अधिकार तो हम आपका है। अपना धर्मभाव रखें, दयाभाव रखें उदारता रखें, अपने स्वरूपका ज्ञान सही बनायें तो हमारा बेड़ा पार हो सकता है। लोग इसकी चिन्ता व्यर्थ करते हैं कि हमारा धन कैसे बढ़े? कैसे हम करोड़पति बनें? अरे धन बढ़ना होगा तो बढ़ेगा, न बढ़ना होगा तो न बढ़ेगा। हमारा कर्तव्य तो यह है कि जो व्यवस्थामें आये सो तो व्यवस्था बनायें और धर्मके खातिर अपना अधिक उपयोग दें। यह देह भी न रहेगा, यह समागम भी न रहेगा। यह समग्र जितना संग पाया कुछ भी न रहेगा तब अपने आपमें अपने आपके स्वरूप का आदर क्यों नहीं किया जाता? यही धर्मपालन है, सब ओरसे विकल्प हटें और अपने आपके ज्ञानप्रकाशसे ज्ञान जगा

रहे, बस यही उत्कृष्ट आनन्द है। यह ही धर्मकार्य है। तो मैं सर्वसंगसे रहित हूं। यह आत्मस्वरूप समस्त बाह्य पदार्थोंके समागमसे परे है, ऐसा यह परमात्मतत्त्व है। जिसका योगी जन ध्यान करते हैं और अपने आपमें विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते हैं।

लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरः॥ १४॥

(५२) परमात्मतत्त्वकी लोकप्रमाणता—यह आत्मा सो परमात्मा, सो परमेश्वर। जब हम अपने आत्माके स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो वह ज्ञानानन्द मात्र ही तो है। मेरे स्वभावमें कोई कलंक तो नहीं लगा। समस्त दोषोंसे परे है। ऐसा यह मैं आत्मा, मैं आत्मतत्त्व आकारकी दृष्टिसे देखो तो कैसा है? जब हम क्षेत्रकी दृष्टिसे देखते हैं तो आत्माका आकार कितना बड़ा?.... लोकप्रमाण। यद्यपि यह आत्मा इस समयमें इस ही देहप्रमाण है जिस देहमें रह रहा है, लेकिन आत्माके प्रदेश अगर फैलें तो कहाँ तक फैल सकते हैं? कितना बड़ा हो सकता है आत्मा? तो वह बात है लोकप्रमाण। अच्छा बताओ यह आत्मा कभी लोकप्रमाण हो भी सकता क्या? जैसे आज यह साढ़े तीन हाथ लम्बा है, एक हाथ चौड़ा है, इतना ही मोटा है। इतने आकारमें है यह जीव। हाथी बन गया, तो जितना हाथीका शरीर है उतने

आकारमें फैल गया जीव और बड़ा मच्छ बन गया तो योजनों प्रमाण फैल गया यह जीव। तो कोई ऐसी भी स्थिति है कि जिस समय यह जीव सारी दुनियामें फैला हुआ हो ?…है। …वह कौनसी स्थिति है ?….उसे कहते हैं केवलीसमुद्घात, लोकपूरणसमुद्घात। अरहंत भगवान किसे कहते हैं ? जिनके चार घातियाकर्म नहीं रहे हैं, जो वीतराग सर्वज्ञ हो गए हैं, उनको कहते हैं सकलपरमात्मा, शरीरसहित भगवान। तो जो सकल परमात्मा है, जिसे हम अरहंत कहते हैं, उसके चार घातियाकर्म नहीं हैं, और क्या हैं ? बाकी चार अघातिया कर्म हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—ये चार घातिया तो नहीं हैं, और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र— ये चार अघातिया कर्म हैं। सो जब यह मुक्त होंगे याने सिद्ध बनेंगे तो एक ही साथ चारों अघातियाकर्म दूर होंगे। ऐसा तो नहीं होगा कि पहले आयु खतम हो जावे और उस आत्माके वेदनीय, नाम, गोत्र रह जायें, ऐसे कैसे रह सकते हैं ? जब खतम होंगे तो चारों ही अघातिया एक साथ नष्ट होंगे और क्षणभरमें वह सिद्धभगवान बनेंगे। एक समयमें वह लोकके अन्तमें पहुंच जायेंगे। चार अघातिया कर्म जो नष्ट होते हैं वे एक साथ नष्ट होते हैं, लेकिन एक समस्या आपके सामने रखी जाय तो विचारना होगा। मानो किसी भगवानकी आयु तो रह गयी थोड़ी आयुकी स्थितिमें,

मानो २ मिनटकी स्थिति रह गयी और वेदनीय नाम, गोत्र—ये रह गए करोड़ों वर्षके तो बताओ एक साथ कैसे नष्ट होंगे ? एक ही समस्या आती है ना ? इसलिए स्वभावतः वहाँ समुद्घात होता है। समुद्घातका क्या मतलब कि आत्माके प्रदेश शरीरको न छोड़कर शरीरसे बाहर फैल जायें। तो भगवान के वे आत्मप्रदेश पहिले नीचे पहुंचे फिर ऊपर पहुंचे, मानो दंडाकार बने, क्योंकि नीचे ७ राजू लोक है और ऊपर ७ राजू लोक है यों १४ राजू प्रमाण इस लोकमें फैल जाते हैं। फिर अगल बगल फैलते हैं, फिर आगे पीछे फैलते हैं, पूरे लोकमें फैल जाते हैं, सिर्फ वातवलय बचती है। वह हवा बच गयी, लेकिन लोकपूरण समुद्घात होते समय वहाँ भी फल गये। तो उस समय यह आत्मा सारे लोकमें फैल जाता है। तो अंदाज करो कि हम आपके आत्मामें भी लोकप्रमाण प्रदेश है, क्योंकि कभी फैलेगा तो लोकप्रमाण फैल जायगा। आज संकुचित है, समाया हुआ है, इसलिए शरीर बराबर मेरा आत्मा है। निश्चयसे तो आत्मा लोकप्रमाण है।

(५३) **आत्माकी देहप्रमाणता**—व्यवहारसे यह आत्मा शरीर प्रमाण कहा गया है। जब जितना शरीर मिला उस शरीर प्रमाण यह आत्मा है। चींटीका शरीर मिला तो चींटीके शरीरप्रमाण यह आत्मा है, हाथीका शरीर मिला तो हाथीके शरीर प्रमाण यह आत्मा है। बच्चा पैदा हुआ तो

वह एक हाथका बच्चा है उतने ही प्रमाण उसका आत्मा है और वही बच्चा जब साढ़े तीन हाथका लम्बा जवान बनता है तो उसका आत्मा उतनी जगहमें फैला होता है। तो आत्मा है एक ज्ञानप्रकाश। इस ज्ञानप्रकाशमय आत्माको जैसा योग मिला वैसा ही फैल गया। तो यह शरीर प्रमाण है और निश्चयसे देखो तो अधिकसे अधिक कितना फैल सकता है। इस तरह आत्मा लोकप्रमाण भी है और अपने प्रदेशमात्र भी है। अब यहाँ एक बात खास जाननेकी है कि आत्मामें अनेक लक्षण मिलेंगे। द्रव्यसे देखो तो गुणपिण्डरूप, गुणपर्यायका समूह, क्षेत्रसे देखो तो आत्मामें विस्तार है, लम्बाई-चौड़ाई है। काल परिणतिसे देखो तो आत्मा अपनी किसी न किसी हालतमें रहता है। मनुष्य रहे, क्रोधी रहे, मान करे, शान्त रहे, कोई न कोई इस आत्माकी दशा बनी रहती है। और भावसे देखो तो आत्मा चैतन्यमात्र है, ज्ञानमात्र है। अब तक तो आत्माको चार तरहसे देखा। लेकिन जब हम आत्माको भावदृष्टिसे देखते हैं कि मैं चैतन्यमात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं। तब आत्माको आत्माका अनुभव जगता है, ज्ञानानुभव होता है। वह है सम्यक्त्वका उपाय। जब हम आत्माको यों ही देखें कि यह तीन हाथका लम्बा-चौड़ा है तो वहां अनुभव कुछ नहीं होता। वह देखना ऐसा हुआ जैसे कि हम किसी बाहरी पदार्थकी बात कर रहे हैं। हमें इस आत्माको चैतन्यरूपमें

अनुभव करना है, उसका दर्शन करना है। हम आप आत्माओं का ऐसा लक्ष्य होना चाहिए अपने बारेमें कि मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, इस ज्ञानप्रकाश मुझ आत्माका किसी दूसरेसे कोई नाता, सम्बंध नहीं है। सब जीव जुदे हैं, सर्व पदार्थ जुदे हैं। कुछ भी मेरा नहीं। देखो यह बहुत बड़ी भारी विपत्ति है जो चित्तमें यह बात बसी हो कि मेरा तो यह सब कुछ है। वह दीन है जो ऐसा समझ रहा हो कि मेरा तो यहाँ वैभव है, कुटुम्ब है, परिजन है, सब कुछ है मेरा। मैं बड़ा वैभववान हूं, मैं बहुत सुखमय हूं, ऐसा जो समझ रहा हो वह बड़ा दीन जीव है, क्योंकि बात उल्टी समझ रहा है, और जिस समयमें कोई विपदा आयगी। मानो धन कम हो गया या घरके कोई लोग मर गए या अन्य कोई कष्ट आ गया तो यह बुरी तरह रोयेगा, क्योंकि इसमें अपना चित्त बसाया है। यथार्थ दृष्टि बनावेगा तो जीवनभर सुखी रहेगा। जो होगा सो होगा उस सबको करो, लेकिन दृष्टि यह बनाओ कि मेरे आत्माका तो मेरे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, सब मुझसे निराले हैं। मैं सबसे निराला हूं, परमात्मस्वरूप हूं, ऐसा अपनेको ज्ञानप्रकाशमय मानें तो इससे यह जीवन भी शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा, कर्म कटेंगे, अगला भव भी उत्तम मिलेगा, धर्मका संग रहेगा और निकट कालमें ही संसारसंकटोंसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, तत्क्षणं गतविभ्रमः ।
स्वस्थचित्तः स्थिरो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिना ॥१५॥

(५४) **शुद्धदर्शनमें गतविभ्रमता**—जिस क्षणमें यह आत्मा अपने आपको सबसे निराला अपने स्वभावमें परिपूर्ण ज्ञानघन आनन्दस्वरूप देखता है उस समय यह भ्रमसे परे हो जाता है । अपने आपकी दृष्टि न रहे, बाहरमें आकार प्रकारों पर दृष्टि रहे तो वहाँ भ्रम छाया रहता है । जो दिख रहा है वही सत्य समझा जा रहा है, ये लोग यह घर यह वैभव ये सब सत् दिखते हैं, लेकिन ये सब मिथ्या मायाजाल हैं । यहां कोई वस्तु सत्य और अपने आपके स्वरूपमें प्रतीत नहीं होती । जो दिख रहा है वह अनेक परमाणुओंका समूह है । परमाणु किसी भी इन्द्रियका विषयभूत नहीं है । जो दिख रहा वह अविनाशी नहीं है, किन्तु परमाणु अविनाशी है । जो दिख रहा वह विघट जाने वाला है, किन्तु परमाणु विघटित नहीं होता है । परमाणु कहाँ दिखता, परमात्मतत्त्व कहाँ दिखता ? जो देख रहा है वह संयोगी मायाजाल है । जो कुछ देखा जा रहा है वह भी मायाजाल है । जीव, कर्म, देह इनका ही तो पिण्ड नजर आता है । इनमें देह नजर आ रहा है, कर्म और जीव नजर नहीं आते । शरीरकी चेष्टामें और स्फूर्तिमें जीव-पनेकी प्रतीति होती है । मायाजाल ही नजरमें आ रहा है, ऐसा यह समताभक्त अपने आपमें अपने स्वभावका दर्शन

करता है और जिस क्षण यह परमात्मतत्त्व जाना जाता है उस समय वह भ्रमरहित हो जाता है। ऐसा अपने आपमें विराजमान परमात्मस्वरूप कैसे देखा जाता है ? तो जब यह जीव स्वस्थचित्त हो, स्वस्थताके मायने अपने आपमें स्थित हो तब यह चित्त आतमस्वरूपकी ओर मुड़ता है और चित्तमें-चित्त रहता है, आत्मामें आत्मा रहता है याने ज्ञान जब मन से अलग होता और अपने आपके ही स्वरूपमें गत होता तब यह चमत्कार दिखता है। एक आत्मस्वरूपको जाने बिना इस जीवने कितनी ही मनपसंद बातोंको जाना समझा, लेकिन उससे कल्याण तो नहीं हुआ। जो बात सीधी आत्मकल्याण की है वह बात कठिन भी है और सुगम भी है। कठिन तो इतनी है कि उसे असम्भव जैसा दिखता है—किसको ? जो अज्ञानी है, मूढ़ है, पर्यायमें द्रव्यकी बुद्धि रख रहा है। तो पर्यायमूढ़ पुरुषोंको आत्मकल्याण कठिन लगेगा और जिसने अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करली वह आत्मकल्याण बड़ी सुगमतासे कर लेगा। यह मैं ही तो हूं, अपने ही तो आधीन हूं। इन्द्रियको रोकें, मनको रोकें, अपने आपमें अपने ज्ञान-प्रकाशको सदा निरखते रहें, इसमें कौनसी बाधा है ? तो जो आत्मकल्याणके रुचिया जन हैं उनको सहज शाश्वत आत्मीय आनन्दमय आत्मकल्याण सुगम है। तो जब चित्त स्थिर करके निर्विकल्प समाधिके द्वारा विश्राम होता है वहाँ यह

अपने आपमें विराजमान परमात्मतत्त्वका दर्शन करता है।

(५५) बाह्य लगावमें भ्रम व कष्टकी पात्रता—इस जीवने खूब देखा और देखा बाहर ही बाहर। अनेक पर्यायें तो ऐसी गुजरीं कि जहाँ कुछ आँखोंसे दिख ही नहीं सकता। एकेन्द्रियके आँखें कहाँ? दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय जीवके आँखें कहाँ? कुछ देख ही नहीं सकते थे। चारइन्द्रिय जीव हुए तो उसका देखना भी क्या देखना, कैसा देखना? वह केवल अपनी विषयसाधना देखता है और विषयसाधनाके बाधकको देखता है, और कुछ देखनेको उसका मतलब नहीं। पञ्चेन्द्रिय हुए, असंज्ञी हुए तो उसका देखना भी चारइन्द्रियकी तरह हुआ। जब यह संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ तो यह देख सकता है, लेकिन बाहरी चीज ही देखेगा, अंतरङ्गकी बात तो इन आँखों से कभी देख ही नहीं सकते। जिसके शान्ति बसी है, ऐसा स्वरूप इन आंखोंसे नहीं देखा जा सकता, बल्कि इन आंखोंसे कभी देख ही नहीं सकते। जिसके शान्ति बसी है, ऐसा स्वरूप इन आंखोंसे कुछ भी देखो तो वह विकल्पोंका ही स्थान है। निर्विकल्प आत्मतत्त्वके दर्शन इन आंखोंकी दृष्टिसे नहीं होते तो निर्विकल्पसमाधिके द्वारा ही वह परमात्मतत्त्व दृष्ट होता है जिसके दिख जानेपर सारा भ्रम दूर हो जाता है। देखो मायामयी जगतमें जितने भी कष्ट हैं, जिनको भी कष्ट हैं समझो कि वहां कोई न कोई भ्रम लगा रखा है उसका कष्ट है।

भ्रम न हो तो कोई कष्ट हो ही नहीं सकता। आप कष्टोंका नाम लें। कौनसा कष्ट ? उत्तर मिल जायगा कि इसने यह भ्रम ल ाया उसका कष्ट है, परिवारका कष्ट है। परिवारमें कोई दुःखी है, कोई बीमार है, कोई प्रतिकूल है उसका कष्ट मान रहे तो वह कष्ट भी भ्रमके आधारपर है। भ्रम लगा है कि यह मेरा है, इसलिए दुःख है। पड़ौसमें कोई बीमार हो उसका दुःख हो जाता।

तो यह दुःख क्यों होता ? भ्रम लगा है कि यह मेरा है, इसका दुःख है। किसीकी हार हो गई, चुनावमें गिर गया या निन्दा हो गयी तो वह कष्ट मानता है, उसमें भी कारण भ्रम है। मान लिया कि यह शरीर मैं हूं और इस मेरेकी हार हो गयी, इस मेरेकी इज्जत चली गई तो वह कष्ट मानता है। जितना भी खेद है वह सब भ्रमके आधारपर टिका हुआ है। भ्रम न हो तो कष्ट हो ही नहीं सकता। जिसके कम कष्ट है उसके भ्रम कम है अथवा उसके राग कम है, इसलिए कम कष्ट मानता है, पर कष्ट माननेकी निष्पत्ति रागसे है, मोहसे है, अज्ञानसे है, भ्रमसे है, आत्माके स्वभावसे नहीं है। आत्मा तो स्वभावतः आनन्दस्वरूप है। आपका ही जीव इस शरीरको छोड़कर इस ही घरमें बछड़ा बन जाय या कोई पशु बन जाय तो उस पशुको तो आपके धन-दौलत, घर गृहस्थीका कोई कष्ट तो नहीं है। परवाह तो नहीं, और

आपको उस बछड़ेपर कोई ममता नहीं। चाहे वह आपका ही पिता मरकर आपके घर बछड़ा बना हो, पर आपको उससे उतनी ममता न होगी जितनी कि पितासे थी। वह बछड़ा अगर दूध पीने लगे तो थोड़ा पी लेनेके बाद झट खींच लेंगे कि बस गाय दुहने योग्य हो गई, इसे बाँध दो। अरे क्यों उसे भूखा रखते ? वह तुम्हारे पिताका ही तो जीव है। पर उससे ममता कहाँ ? तो जितने कष्ट हैं वे सब भ्रमसे हैं।

(५६) गतविभ्रमता होनेपर शान्ति व आत्मदर्शन— भैया ! भ्रम छोड़ें और अभी सुखी हो लें। भ्रम जब दूर होता है उस समय इस तत्त्वका दर्शन होता है। जिस समय अपने अंतः बसे हुए परमात्मस्वरूपका दर्शन होता है उस समय फिर कोई भ्रम नहीं रहता। घरमें एक बालक हो है, ८-१० वर्षका ही है और उसकी ऐसी प्रकृति बनी हो कि उसे घर नहीं सुहाता, माता-पिता वगैरासे ममता नहीं, खाने-पीनेकी ममता नहीं, एक आत्मोद्धारकी ही बात चित्तमें लगी है, बड़ा होता जा रहा, धर्ममें लगन बढ़ती जा रही, लोग आश्चर्य करते हैं कि यह तो अभी १५-१६ वर्षका ही है। इसकी कैसी धर्मकी धुन है, घरमें इसे ममता नही, सभी लोग उसे सिखाते हैं। देखो बेटा ! ये सब चीजें तुम्हारी हैं, इन्हें सम्हालो, पर उसके चित्तमें नहीं आता। तो हो सकता है कि उसे किसी अन्तः बसे हुए परमात्मस्वरूपका दर्शन हुआ है

जिसके आगे उसे सारे आनन्द फीके मालूम होते हैं। देखिये— श्री नेमनाथ भगवानके समवशरणमें जब यह उपदेश सुननेमें आया कि १२ वर्षके बादमें यह द्वारिकापुरी भस्म हो जायगी उस समय कितने ही पुरुष विरक्त हुए और श्रीकृष्णकी भरी सभामें प्रद्युम्न (श्रीकृष्णका पुत्र) खड़ा होकर बोलता है कि महाराज अब हम बन जायेंगे, दीक्षा लेंगे, अब मुझे यहाँ कुछ नहीं सुहाता। वहाँ बहुतसे बड़े बूढ़े लोग बैठे थे। सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो—इसके बाप दादा सब यहाँ बैठे हैं और यह कहता है कि हम दीक्षा लेंगे। सो सभी लोग प्रद्युम्नसे बोल उठे — अरे बेटा ! तुम्हारे बाबा दादा वगैरह तो यहाँ बैठे हैं, उनके सामने तुम दीक्षा लेनेकी उम्र बात कह रहे हो, अरे अभी तुम्हारी दीक्षा लेनेकी नहीं है। तो वह प्रद्युम्न बोला— दादा बाबा आदि महापुरुष अगर संसारके खंभ बनकर रहना चाहते हैं तो रहें, पर मैं जगतका खम्भ बनकर नहीं रह सकता। बस इतना कहकर चल दिया। तो विरक्ति, ज्ञान यह कोई बूढ़े लोगोंके ही जिम्मे नहीं है। जिसके भी ज्ञान उत्पन्न हो गया, बस वही ज्ञानी है। यही प्रद्युम्न अपनी स्त्रीसे मिलने व अपने विरक्त होनेकी बात कहनेके लिए घर जाता है। वहाँ स्त्री कहती है कि अभी आपको विरक्ति जगी नहीं, क्योंकि अगर विरक्ति जगी होती तो फिर आपको मुझसे मिलने व कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? आप चाहे विरक्त

हों अथवा नहीं, मैं तो यह चली। इतना कहकर वह चली गई। तो जिसका भवितव्य अच्छा है वह ज्ञानमें मस्त हो जाता है, रागसे दूर हो जाता है और अपने परमात्मदेवसे मिलाप कर लेता है। बाकी जो अपने अंतः विराजमान परमात्मतत्त्वका समागम नहीं पा सक रहे वे जगतके स्तम्भ बने। तो जिस क्षण अपने आपमें विराजमान परमात्मस्वरूपका दर्शन होता है उस क्षण कोई भ्रम नहीं रहता, कष्ट नहीं रहता।

स एव परमं ब्रह्म स एव जिनपुङ्गवः।
स एव परमं तत्त्वं स एव परमो गुरुः॥ १६ ॥

(५७) निर्विकल्प समाधि द्वारा सहज जात आत्मदर्शन की परमब्रह्मरूपता व जिनपुङ्गवता—निर्विकल्प समाधिभाव के द्वारा बाह्यपदार्थोंकी जानकारी रोककर क्षणभरको अपने आपमें विश्राम करें और उस पौरुषके द्वारा जो अपने अन्तः अनुभव होता है ज्ञानमय वही परमब्रह्म कहलाता है। परमब्रह्मका दर्शन करो। कहाँ दर्शन करो? बाहरमें कहाँ दर्शन मिलेगा? अपने ही अन्तः अपनी ही परिणतिसे, अपने ही साधनसे अपने ही आपका उस रूपमें अनुभव हो, वही दर्शन कहलाता है। मन्दिर आदिक तो बाह्य साधन हैं, पर कोई उस मूर्तिको ही भगवान माने तो भगवानके दर्शन तो नहीं हो सके। अरे जिस भगवानकी सम्भावना की है उस भगवानके स्वरूपको सोचो तो भगवानको बाहरमें अभी जान पाया नहीं।

भगवान बाहरमें पाया नहीं जाता। एक जानभर लिया, जैसे बाहरकी अनेक चीजें जाननेमें आ रहीं, इसी तरह बाहरमें यह भगबान भी जाननेमें आया, मगर पाया नहीं गया अभी। जब अपने स्वरूपसे तुलना करेंगे और अपने स्वरूपमें उसका भान होगा तो पाया गया समझिये। तो परमात्मस्वरूपका दर्शन बाहर नहीं मिलता। खुद अपने आपके अन्तः ही मिलता है। वही परमब्रह्म कहलाता है। वही यही आत्मतत्त्व जो भ्रम-रहित होकर निर्विकल्पसमाधिके द्वारा अपने अन्दरमें देखा गया। वही जिनश्रेष्ठ कहलाता है। रागद्वेष भावको जीते ऐसा आत्मस्वरूप बाहर कहाँ दिखेगा? अपनेको बनावें उस ढंगका जिससे कि अपने आपमें उस जिनेन्द्रदेवके दर्शन हों। परमतत्त्व यही है जो एक निर्विकल्प भावसे बाहरी चीजोंकी जानकारी लेकर अपने मनको केन्द्रित करके संयममें लेकर जो कुछ भीतर ज्ञानसामान्यका अनुभव किया वह ही परमतत्त्व है, उत्कृष्ट तत्त्व है। सबसे उत्कृष्ट चीज क्या है, सर्वोत्कृष्ट वैभव क्या है? बस अपने अन्तः विराजमान यह ज्ञानप्रकाश।

(५८) विपत्ति व विश्रामके सत्यस्वरूपका ज्ञान न होनेपर प्राणीके निरन्तर व्याकुलताका सद्भाव—देखो लोग हर्ष मान-मानकर फूल-फूलकर विपत्तिमें फंस रहे हैं। कुछ बड़े हुए, विवाह किया, वहाँ खुशी मानी, बच्चे हुए तो वहाँ खुशी मानी। बच्चोंकी शादीकी फिक्र हुई, शादी हुई तो वहाँ

खुशी मानी। खुशी तो मानी जा रही है इन सर्वस्थितियोंमें, मगर अपने परमात्मस्वरूपकी जो भूल चल रही है। जिन खुशियोंमें परमात्मतत्त्व ढका जा रहा है, जो कि शान्तिका आधार है, उसे विपत्ति नहीं समझते। बाहरमें राग जगे, जो कुछ सुहावना लगे उस वस्तुका इन्द्रिय द्वारा भोग करनेमें इसने अपनेको जुटा दिया। ये भोग इसको बड़े सस्ते लग रहे हैं, लेकिन महंगे कितने पड़ेंगे? मरणके बाद दुर्गति होगी, खोटा जन्म मिलेगा, अज्ञानता बढ़ेगी। तो इन बाहरी विषय-भोग, साधन विकल्प जानकारी, इनसे दूर रहकर जो एक क्षण अपने आपमें विश्राम किया जाता है वहाँ दर्शन होता है इस परमतत्त्वका।

देखो जब थक जाते हैं तो आराम करनेकी सूझती है। बहुत थक गए तो लेट जाओ, आराम करो, मगर लेट करके भी आराम मिल रहा है क्या? जब मन चारों ओर दौड़ रहा है और मनमें अनेक इष्ट अनिष्ट बातें जमा होती रहती हैं, तो लेटे हुए भी उसे आराम नहीं मिल रहा। तो बात यह है कि इसने थकनेका स्वरूप भी नहीं जाना और आरामका स्वरूप भी नहीं जाना। थकना माना केवल इस बातको कि शरीरसे ज्यादा काम कर लिया तो थक गए। इसको थकना समझते हैं, इसलिए शरीरसे काम मत करो। अरे थकना तो विकल्पसे है। जो निरन्तर मनमें चक्की चल

रही है, अनेक जगह इष्ट अनिष्ट बुद्धि की जा रही है और अपने मनके माफिक बात न होनेसे घबड़ाहट बनाये हैं, ये विकल्प, ये विचार, तरंग इस जीवको थका रहे हैं। किन्तु इसने थकनेका स्वरूप ही सही नहीं समझा। फिर उस थकान को मिटानेके लिए आरामका क्या स्वरूप समझें।

(५६) थकान व विश्रामका सत्य ज्ञान होनेपर विश्राम का अवसर—जिसने यह समझा कि मैं आत्मा विकल्पके द्वारा थका करता हूं, यहाँकी बात, वहाँकी बात, इष्ट अनिष्ट, मतलब नहीं, फिर भी अनेक कुबुद्धियाँ होती हैं, विचार तरंग उठते हैं उन विकल्पोंसे मैं थक गया हूं, कष्टमें पड़ा हूँ। ऐसा थकान का स्वरूप यदि इसके चित्तमें आये तो अपनी थकानको मिटाने के लिए सही आराम भी कर सकता हूं। और वह आराम लेटेमें मिले, बैठेमें मिले, आसनमें मिले, खड़ेमें मिले, कहीं भी आराम हो सकता है। जहाँ विकल्पजाल मिटे, बाहरी चिंतन मिटे, ज्ञानमें ज्ञान समाये, इस ज्ञानमें अन्य चीज न आये, बस वही इसका सच्चा विश्राम है। अनादिकालसे अब तक विकल्प विकल्प ही किए जा रहे हैं। इन विकल्पोंको करते हुए इतना थक गया है यह जीव, पर उस थकानको मिटानेका उपाय यह थकान ही समझ रहा है। विकल्पसे होने वाले दुःखको दूर करनेका उपाय इसने विकल्प ही समझा। सो भला बताओ तो सही, क्या खूनका दाग खूनसे ही धोया जा सकता है?

नहीं धोया जा सकता। तो ऐसे ही विकल्प और भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख दूर करनेका उपाय कोई विकल्प और भ्रम करना हो करे तो क्या दुःख मिट सकता है ? कदापि नहीं मिट सकता। जब यह जीव इन विकल्पोंसे हटकर निर्विकल्प मनके द्वारा अपने भीतर ज्ञानप्रकाशको ज्ञानमें निरखता है तो वहां थकान मिटती है और परमविश्राम मिलता है।

(६०) **परमविश्राममें सहज उपलब्ध आत्मज्ञानकी परम गुरुता**—निर्विकल्प समाधिके द्वारा चित्तको स्थिर करके सही आराममें रहकर जो क्षणमात्रको अपनेमें ज्ञानप्रकाश समाया देखनेमें आता है वह ही है परमगुरु। गुरु कौन होता है ? जो हितकी शिक्षा दे, अहितसे बचाये, विपत्तिसे बचाये, सत्कार्योंमें लगाये उसे कहते हैं गुरु। तो मेरा शरण, मेरा रक्षक, मेरा हितदर्शक, अच्छे काममें लगा देने वाला कौन है ?···यही मेरा ज्ञान। ज्ञानप्रकाशका ज्ञान। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, सर्वत्र ज्ञानमय हूं, इस प्रकारका बोध हो रहा हो तो यह ज्ञान ही परमगुरु है। जो व्यवहारमें गुरु कहलाते हैं वे मेरेका सब कुछ दें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। अगर गुरु दूसरेको ज्ञान देते फिरें तो फिर १००-५० लोगोंको ज्ञान देनके बाद गुरु तो कोरे रह जायेंगे। जैसे किसीको आप रेजगारी देने लगें तो धीरे धीरे वह रेजगारी तो खतम हो ही जायगी। ऐसे ही गुरु अगर किसीको ज्ञान देने लगें तो कुछ लोगोंको ज्ञान देनेके

बाद गुरु तो ज्ञानरहित हो जायगा। पर ऐसा तो नहीं होता। देखा यह जाता है कि गुरु ज्यों-ज्यों ज्ञान अधिक देता है वैसे ही वैसे उसका ज्ञान और भी विकसित और स्पष्ट होता जाता है। अरे गुरु ज्ञान किसीको देता नहीं, वह तो अपनी चेष्टा करता है, वचन बोलता है और अन्य लोग उसका अर्थ लगाकर उसका तत्त्व विचारकर अर्थ ग्रहण करते हैं और उससे ज्ञान प्रकट होता है। तो मेरा ही ज्ञान मेरा गुरु है। ऐसी सुबुद्धि जिसके बनी रहे तो वह सुखी रहेगा। मुझमें दुर्बुद्धि है तो मैं दुःखी होऊँगा। ज्ञान एक ऐसा वैभव है कि जिसका कहीं डर ही नहीं। न चोर उसे चुरा सकते, न डाकू लूट सकते, कोई भाई बन्धु उसे बाँट नहीं सकते। इससे कहीं शंका ही नहीं है, और बाहरी धन-वैभव ऐसा है कि उसे तो हड़पनेके लिए सभी तैयार रहते हैं। क्या चोर, क्या भाई बन्धु, क्या राजा सभी धन हड़पनेकी कोशिश करते हैं। यह ज्ञान तो इस भवमें भी लाभ देता है और परलोकमें भी लाभ देता है। तो अपने चित्तमें एक यह निर्णय बनाना होगा कि मेरा ज्ञान ही रक्षक है, ज्ञान ही शरण है, ज्ञान ही देवता है। ज्ञान ही गुरु है। उस ज्ञानमें भी कौनसा ज्ञान ? बाह्य कला सम्बंधी ज्ञान नहीं, किन्तु अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान। इस ज्ञानके जाननेपर फिर कहीं कोई भय नहीं रहता।

(६१) मिथ्याज्ञानी जीवके जीवन-मरणमें आकुलताकी

प्रचुरता—मरण समयमें किन जीवोंको कष्ट होता है ? जिन्हें मोह लगा हो, राग लगा हो। जिनका ज्ञान विशुद्ध है और मोह नहीं लगा है उनको कोई कष्ट नहीं होता। वे जानते हैं कि मैं यहां न रहा, और कहीं रह गया, क्या बात है ? कोई यदि जबरदस्ती करता है—यहाँ बैठो, वहाँ बैठो—लो भाई वहाँ बैठ गए, इसमें कौनसी कष्टकी बात हो गयी। इस आयुकर्मने इसपर जबर्दस्ती की, तुम यहाँ न रह सकोगे, तुम्हें दूसरे शरीरमें रहना होगा, यह स्वीकार कर लिया तो इसमें कौन सा कष्ट है ? यहां न रहे आगे चले गए, लेकिन जिन्होंने यहाँ के वैभवमें, कुटुम्बमें मोह लगा रखा है वे कैसे स्वीकार करेंगे ? उन्हें दुखी होना पड़ेगा—हाय मेरा वैभव गया, इतनी बड़ी कमाई की, इतना बड़ा व्यापार किया, अब मैं इसे छोड़कर जा रहा हूं। अनुप्रेक्षामें यह बताया है कि देखो—अगर तुम्हें सम्पदा मिली है तो उसको अपने खाने पीनेके काममें लो, दानके काममें लो। कंजूस मत बनो। कृपणता खुदको बड़ा दुःख देने वाली है। जो न खुदके खानेमें काम ले सकता है, न दूसरोंके उपकारमें लगाता है, केवल धनको ही जोड़कर रखनेकी जिसको धुन बनी हुई है, उसको मरण समयमें बड़ा संक्लेश करना पड़ता है—हाय मैंने बड़ा श्रम करके धन भी कमाया, कुछ खर्च न कर सका, और देखो सबका सब छूटा जा रहा है। कोई पुरुष ऐसा है कि मान लो उसने दान तो

नहीं किया, लेकिन अपने आरामसे खानेमें कोई बात आयी तो कमी न रखी, खूब खर्च किया तो कमसे कम उसको यह तो सन्तोष होगा कि छूट रहा तो छूटे, पर मैंने भोगा तो खूब। (हम यहाँ पूरे ज्ञानकी बात नहीं कह रहे, जो जीवनमें गुज-रता है उसकी बात कह रहे हैं।), और जिसने जाना कि यह वैभव तो पर चीज है इसका तो परोपकारमें ही लाभ है, उसको छोड़नेमें कष्ट नहीं होता। तो कृपणता इस जीवको बहुत दुःखी कर देती है और फिर यह जानें कि जब यह शरीर भी मेरा नहीं तो फिर जगतमें मेरा और क्या होगा?

(६२) **ज्ञानकी परमहितकारिता**—मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं। ज्ञान ही मेरी चीज है, ज्ञानके सिवाय मेरा कोई साथी नहीं है। हर जगह आप देखो, इस जिन्दगीमें भी देखो—आपके पास बुद्धि है, ज्ञान है, समझ है, ढंगसे बोलचाल कर सकते हैं तो यहाँ भी सुख है और जिसके बुद्धि नहीं है, मान लो दिमाग हल्का है, उल्टा है उसको आरामके कितने ही साधन जुटाये जायें, पर वह तो दुःखी है। ज्ञान ही साथ नहीं दे रहा। तो इस भवमें भी जिसने ज्ञान नहीं पाया वह दुःखी रहता है और परभवमें भी जिसने ज्ञान नहीं पाया वह दुःखी रहता है। तो मेरा साथी कौन, मेरा असली बंधु कौन?.... यह मेरा ज्ञान। और जो घरमें रहने वाला मेरा बन्धु है वह तो मेरा बन्धन है। मेरा

शरण कौन ?····मेरा ज्ञान । और दुनियाके ये मित्र, ये पार्टी के लोग ये तो अपना स्वार्थसाधनके लिए आपसे कुछ कह बैठते हैं, पर ये सच्चे शरण नहीं हैं । आपका ज्ञान काबूमें न हो तो दूसरे लोग आपको ठग लेंगे । और यदि आपका ज्ञान मजबूत है तो आप विपत्तिमें नहीं पड़ सकते । प्रत्येक समस्या का समाधान आप ज्ञान द्वारा कर सकते हैं । इस जीवनमें ज्ञानका महत्त्व समझिये बाहरी चीजोंका कुछ महत्त्व नहीं, बाहर समागम तो पूर्वमें किए गए धर्मके कारण जो पुण्यबंध हुआ उसका यह फल है । यदि पुण्योदय है तो पाया जाता और पुण्योदय नहीं है तो नहीं पाया जाता, पर गर्व करने लायक कुछ नहीं है । यह मेरेको मदद करने वाला है, मुझसे बड़ा कौन है ? अरे यह बात नापो तो ज्ञान द्वारा । मेरेको यदि ज्ञान है तो मैं शान्त रहूँगा और मेरा ज्ञान बिगड़ा है, दुर्बुद्धि है, विषयोंमें आशक्ति है, कषायोंसे भरे हुए हैं तो फिर लोकमें मेरा कोई मददगार नहीं है । विषयकषायोंसे प्रीति हटाकर तत्त्वज्ञानकी ओर अपनी प्रीति बढ़ाइये और शेष रहे सहे जीवनको ज्ञानद्वारा सफल कीजिए, नहीं तो यह रही सही जिन्दगी भी समाप्त हो जाने वाली है । अन्तमें पछतावा ही हाथ लगेगा । फायदा कुछ नहीं होता । जितना जीवन बचा है उसमें दो-तीन घंटा रोज तत्त्वज्ञानमें, स्वाध्यायमें, ज्ञानियों से सुननेमें, तत्त्वज्ञानके प्रसंगमें कुछ समय बितायें तो यह

जीवन सफल होगा ।

स एव परमं ज्योतिः स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमो गुरुः ॥१७॥

(६३) निर्भ्रान्त भावकी परमज्योतिरूपता व परमतपोरूपता—बाह्य पदार्थोंका ध्यान हटाकर क्षणभर अपने आपमें विश्राम करनेपर जो अंतः ज्ञानस्वरूपके दर्शन होते हैं वह ज्ञानस्वरूप ही परमज्योति है । अच्छा निरखिये वह उत्कृष्ट ज्योति प्रकाश कौन है जिस प्रकाशमें रहकर जीवको किसी भी प्रकार की विपत्ति नहीं आया करती है । वह उत्कृष्ट प्रकाश है अपने आत्माके ज्ञानप्रकाशका अनुभव, और यह ही उत्कृष्ट तत्त्व है । अपने आपके स्वरूपमें अपने ज्ञानको लीन करना यह उत्कृष्ट तत्त्व है, क्योंकि यहाँ समस्त इच्छाओंका निरोध है । और अज्ञानी जीवोंको तो यह दिखेगा कि इसमें बड़ा कष्ट है । अपने ज्ञानको अपने स्वरूपमें रोकनेमें बड़ा श्रम है, बड़ा पौरुष है, बड़ा त्याग है, ऐसा मोही जन विचारें तो भले ही विचारें, लेकिन जो अपना स्वरूप है अपने आपके ज्ञान द्वारा ही जो अनुभवमें आता है उसके अनुभवमें क्या कष्ट ? प्रभु अरहंत सिद्ध भगवान सदा काल अनन्तकाल तक अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव और आनन्द पाते रहते हैं । तो अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमें समा देना, लेना, करना, उसही में ज्ञानज्योतिका अनुभव लेना, परम तृप्ति लेना, बस यही है उत्कृष्ट तत्त्व ।

जितने भी तपश्चरणमें तप बताये गए हैं-- बाह्य और आभ्यन्तर, सबका लक्ष्य यह है कि आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपमें रमे, बाहरी पदार्थोंमें न रमे। बाहरी पदार्थोंमें रमना आत्माका स्वरूप नहीं और बाह्य पदार्थोंमें रमना आत्माके लिए बड़ी विपत्ति है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा क्यों अपने क्षेत्रको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें रम रहा है। संसारमें जब लोगोंको देखते हैं तो यह ही दृष्टिमें आ रहा है कि सारा यह मनुष्यलोक पर की ओर ही मुड़ रहा है, वहाँ ही राग कर रहा है। यह दिखता है, मगर इससे तो अनन्त हैं सिद्ध भगवान। भगवान अपने आपके स्वरूपमें लीन हैं और आनन्द पा रहे हैं, उन्हें क्यों नहीं देखते ? यहाँ लोगोंको देखते हैं तो अपना धैर्य टूट जाता है। कैसे धर्ममें लगें ? दुनियामें देखते हैं कि लोग धन की होड़में लगे हैं, इज्जतमें लगे हैं, विषयसाधनोंमें पड़े हैं— विषयोंके मौजमें ही मस्त हो रहे हैं। जब यहाँ देखते हैं तो ऐसा लगता है कि यह ही करना चाहिए, अरे भैया, अज्ञानियोंकी वोट न लो, वोट ही लेना है तो अनन्त सिद्ध भगवानके चरित्र देखो—ज्ञान ही शरीर जिसका है, देह कर्मसे रहित है, अपने ज्ञानमें तृप्त रहा करते हैं, अत्यंत विशुद्ध निस्तरंग हो गए हैं, ऐसा ही हमें होना चाहिए। ऐसी हम भावना बनायें तो यह ज्ञान हमारा अपने ज्ञानस्वरूपमें रम जाय। यही उत्कृष्ट तत्त्व है। जगतमें जीवोंने अब तक अन्य सारे कार्य कर डाले,

बाह्य पदार्थोंके रंगमें इतना तीव्र रंगे हुए हैं कि वह राग नहीं छूटता, अज्ञान नहीं छूटता। जो कुछ दिख रहा है उसे अपना कुटुम्बी जाना, इनके लिए ही उसका तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर है, और जगतके अन्य जीव, उसके लिए न कुछ जच रहे हैं। कितना महान् अज्ञान भरा हुआ है। जब सब जीव एक समान हैं, एकस्वरूप हैं। सभी भगवानके स्वरूप जैसे हैं तो उनमें इतनी छंटनी करना और इतना तीव्र अज्ञान बसाना कि बस घरमें जो दो-चार जीव हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, इनके लिए ही मेरा जीवन है। तो अपने जीवनका उद्देश्य भी बिगाड़ दिया, अपना भविष्य भी बिगाड़ दिया। तो इन बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान रमाने को उत्कृष्ट तप कहते हैं। इस परम तपका परिणाम है कि यह निकट कालमें सर्व संकटोंसे छुटकारा पा लेगा।

(६४) **निर्भ्रान्तभावकी परमध्यानरूपता व परमगुरुरूपता**—निर्भ्रान्त स्थितिमें जो आत्मदर्शन है व ध्यान है यह ही उत्कृष्ट कहलाता है। किसी बाहरी पदार्थमें ध्यान लगाया तो पदार्थ बाहर है, ध्यान लगाने वाला इधर है और फिर वह पदार्थ नष्ट होने वाला है और अत्यन्त भिन्न पदार्थपर जो ध्यान जमाया सो भीतरसे रीता हो गया। बाहरसे कुछ मिला नहीं। दोनोंसे गया। जो पुरुष बाहरकी चीजोंमें ममता करता है और उन बाहरी चीजोंमें ही निरन्तर ध्यान बनाये रहता है

उसे बाहरमें कुछ मिलता नहीं, क्योंकि वह भिन्न पदार्थ है, उससे आत्मामें आयगा क्या ? और आत्माका ध्यान हटाया है तो आत्मामें भी कुछ नहीं मिल रहा। तो यों दोनों तरफसे वह बरबाद हुआ। न अपनेसे कुछ मिला, न परसे। तो बाहरी पदार्थोंका ध्यान हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मापर ध्यान जमाना यह ही है उत्कृष्ट ध्यान। इस अवस्थाके ध्यान बिना कोई जीव नहीं रह पा रहा, किसी न किसी ओर ध्यान बनाये हुए हैं यह, लेकिन विवेक तो बनायें कि कौनसा ध्यान मेरे लिए सारभूत है और कौनसा असारभूत है। इसका संक्षेप में यह निर्णय है कि जिस ध्यानका सम्बंध विषय कषायसे है वह ध्यान तो असार है और जिस ध्यानका सम्बन्ध अविकार ज्ञानस्वभाव परमात्मस्वरूप पर है वह ध्यान सारभूत है। निर्विकल्प समाधिके बलसे जिसने अपने आपमें अपने इस ज्ञानस्वरूपका ही ध्यान बनाया है उसके यह सर्वोत्कृष्ट ध्यान है, और यह ही ध्यान परम हितैषी है, हितरूप है, गुरु है। जो मेरेको विपत्तियोंसे बचाये और आराममें स्थापित करे वह है मेरा ज्ञानानुभव।

स एव सर्वकल्याणं स एव सुखभाजनम्।
स एव शुचिनिर्वाणं स एव परमः शिवः ॥१८॥

(६५) आत्मदर्शी निर्भ्रान्तभावकी सर्वकल्याणरूपता—

अपने आत्माका स्वरूप अपने ज्ञानमें आये ऐसा जो कुछ परि-

णाम है वह ही समस्त कल्याण है। कल्याण होता है समग्र विकारोंसे हटकर अपने शुद्ध स्वरूपमें आनेसे। मोही जन समझते हैं कि इसमें तो विनाश हुआ, क्योंकि वे अपना जीवन और अपना सर्वस्व इसीको समझते हैं कि कुटुम्बमें, वैभवमें इनमें मोह हो, प्रीति हो, अच्छा मकान बने, वैभव बढ़े, जनता गुण गाये, प्रशंसा करे। अहो, जो जितना राग रखता है कुटुम्बसे उसको उतनी यहाँ मोही जगतमें प्रशंसा की जाती है, और जो जितना दूर रहता है, उपेक्षा करता है तो लोग उसे गजबकी दृष्टिसे देखते हैं अरे क्या हो गया इसे, इसके दिमागमें क्या बात समा गयी ? यह तो अपने स्त्री-पुत्रादिकसे प्रेम ही नहीं करता। तो जगतके लोग तो मोहके प्रशंसक हैं। ज्ञान और वैराग्यको असम्भव समझते हैं, और इसी कारण यदि कोई ज्ञानकी ओर लगा, आत्मध्यानको ओर लगा तो उसे वह बरबादसा समझता है। लो इसका घर मिट गया, उसे घरखोजा कहते हैं। इसी कारण उन्होंने कल्याण नाम रख दिया। जैसे घड़ा फूट गया तो लोग कहते हैं कि लो घड़ेका कल्याण हो गया। कोई छोटा जीव हाथमें लिया बचानेके लिए या कुछ ऐसा दब गया कि वह मर गया तो लोग कहते कि लो इसका कल्याण हो गया। लोग कल्याणका अर्थ विनाश हो जाना मानते हैं। अज्ञानियोंको ऐसी सूझ है कि जितना संसारमें सना जाय, प्रीति की जाय उतना तो हितकी बात है और जितना संसार

से अलग हटा जाय, ज्ञानस्वरूपमें रमा जाय वह इसके लिए विनाशकी बात है। कितना भ्रम बना हुआ है मोहियोंके। जो सत्य चीज है, तथ्यकी बात है उसे तो समझते हैं अकल्याण, अपने लिए बरबादी और जो बरबादीका रूप है उसे समझते हैं अपनी आबादी। वास्तविक कल्याण तो इसमें है कि आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपमें आ जाय। यह ही ज्ञानानुभव सर्व कल्याणरूप है।

(६६) **आत्मदर्शी निर्भ्रान्तभावकी सुखभाजनता**—वही परम पुरुष जो परके ध्यानसे हटकर एक ज्ञानज्योतिस्वरूप स्व सहज आत्मतत्त्वकी उपासनामे लगा रहा करता है, वह ही सुखका पात्र है। वास्तविक आनन्द किसे मिलेगा ? जो समस्त बाह्य वस्तुओंका ध्यान छोड़ेगा और अपने आपके ज्ञानज्योतिस्वरूपमें रमेगा, वह है सुखका पात्र। चूँकि यहाँ ऐसे मनुष्य हैं नहीं तो एक ओरसे लेकर सर्वत्र देख लो—कोई किसी चिन्तामें है, कोई किसी ध्यानमें है, तो वे सुखके पात्र नहीं हैं। जैसे कोई गरीबसे गरीब आदमी हो तो वह भी जब कहीं बाजारमें या किसी समारोहमें जाता है तो वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर अपना फैशन बनायेगा। चाहे घर कैसे ही रह रहा हो, लेकिन अच्छेसे अच्छे वस्त्र पहिनकर पान वगैरह खाकर जायगा। लोगोंमें वह बड़े शानसे रहेगा। वह समझता है कि यह ही मेरा बड़प्पन है। इसी तरह जो कुछ थोड़ासा

भी चतुर लोग हैं वे अपना दुःख लोगोंसे छिपा देते हैं और दुनियाके सामने ऐसी मुद्रामें रहते हैं, ऐसी प्रसन्न मुद्रामें रहते है कि लोग यह जान जायें कि यह बड़े सुखी हैं। वस्तुतः हैं सभी दुःखी। अरे क्या आराम है, क्या सुख है? जब तक कर्मबन्ध हो रहा है, कर्मोदयमें चल रहे हैं, शरीरकी परतंत्रता है। न जाने कब किस पापका उदय आ जाय और किस स्थितिका सामना करना पड़े। जहाँ इतने प्रकारके उपद्रव हैं वहाँ यह सोचना कि हम बड़े सुखमें हैं, यह एक बड़ी भूल है। बड़े व्यसनोंमें पड़े हैं, जन्ममरण, शोक, चिंता, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि कितनी ही आपत्तियां हैं, और जो नहीं हैं सो भरोसा नहीं कि वे न आयें। जब चाहे आ धमक सकती हैं, ऐसे दुःखभरे संसारमें संसारी बातोंको अपना सुख समझना यह भूल है। अरे सुखका निधान तो यह आत्मा स्वयं है।

(६७) जगतमें बाहरकी ओरसे ध्यान हटाकर स्वयंमें ही आनन्दकी प्राप्ति—दुनियामें जिसका यह निर्णय बन जाय कि बाहरमें सुख कहीं नहीं है, सुख तो आत्माका स्वरूप है, सो जितना आत्माकी ओर आयेंगे ध्यानसे, पूजासे, चिन्तनसे, उतना ही परवस्तुका ध्यान दूर होगा और उतना ही यह आनन्द पायगा। बाहरकी बातोंमें यह आनंद नहीं पा सकता। अभी दो व्यापार कर लिए, अब तीसरा और अब चौथा करना है। कितना बढ़ानेमें लालसा रहती है। अरे गृहस्थ हैं, इस

जीवनमें धनकी आवश्यकता है तो एक ही कोई काम बड़े अच्छे ढंगसे कर लो, उसे ही आरामसे करो, जो प्राप्त होना है वह आपके एक काममें प्राप्त होगा। यदि दसों काम बढ़ा दिये और बढ़ा दिया इसकी चिन्ता नहीं, किन्तु तृष्णामें यह बसा हुआ है कि औरोंके जितने काम हैं वे सब मिलकर एक मेरे ही काम बन जायें। तो इसके परिणामोंमें तो शान्ति नहीं है। शान्ति तो नियमसे परसे, विकारसे अलग होकर अपने जब आपके ध्यानमें मिलेगा। तब ही तो देखो पूर्वकालमें लोग वैभव पुत्रोंको सौंपकर, राज्य पुत्रोंको सौंपकर दोक्षा ले लेते थे और आत्मीय आनन्दके अनुभवमें रहते थे, और तब बड़ी सुख शान्ति बनी रहा करती थी। तो पूर्व समयमें यह काम बहुतायतसे होता था, कुछ ही लोग नहीं करते थे, और आज कोई यह सोचे कि आज ऐसा जमाना नहीं है कि घर छोड़कर, साधु बनकर धर्मसाधना कर सकें। अनेक प्रकारकी ऐसी बातें हैं कि जिनसे आजके जमानेमें सर्वसाधारणको इस त्यागमार्गमें शान्ति नहीं मिल सकती। कौन बातें हैं कि जिनसे आजके जमानेमें सर्वसाधारणको इस त्यागमार्गमें शान्ति नहीं मिल सकती। कौनसी बातें हैं ? देखो जो दृढ़ संकल्पी हो, ज्ञानवान हो ऐसा ही पुरुष सर्व कुछ त्यागकर शान्तिके साथ रह सकता है, मानो नहीं है समय सबके लिए ऐसा तो ऐसा तो कर ही सकते हैं कि जब लड़का समर्थ हो गया उस कालमें अपना

जीवन चलानेके लिए जितना आवश्यक समझें १०० या २०० या ४०० रु० माहवारकी आमदनी रख लो बाकी सब कार्य-भार लड़केको सौंप दो, फिर वे चाहे जो करें। अब तुम किसी भी जगह रहकर धर्मसाधना करो। तो ऐसे रिटायर तो हो सकते हो। तो इतना ही करनेकी पद्धति बनाओ कि जब बड़ी आयु हो जाय, लड़के समर्थ हो जायें तो अपने लिए आवश्यक आय रखकर बाकी सब लड़कोंको सौंप दो। उसमें इतनी तो पात्रता रहेगी कि जब चाहे इस नगरको छोड़कर २ या ४ या ६ माहको अन्यत्र कहीं सत्संगमें रह सकते हो। जो ऐसा नहीं कर सकता वह पूर्वकालके उन पुरुषोंके समान है जो धन-वैभवके बीच रहकर उसकी तृष्णामें मरे और कुगतिमें गए। तो कुछ विवेक जगना चाहिए कि अपने इस आखिरी जीवन में शान्ति और धर्मके वातावरणमें रह सकें। जिन्होंने आत्मा का ध्यान किया, आत्माके अनुभवमें रहे वे ही सुखके पात्र हो सके।

(६८) आत्मदर्शी निर्भ्रान्तभावकी शुचिनिर्वाणरूपता—बाहरी पदार्थोंमें मोह ममता तृष्णा करने वाले शान्त सुखी नहीं रहे। ऐसा ही पुरुष पवित्र निर्वाण स्वरूप है, मुक्त है, सिद्ध भगवान तो सर्वथा मुक्त हैं, देहसे, कर्मसे, वैभवसे अरहंत भगवान भी मुक्त ही हैं, विभाव तो उनमें हैं ही नहीं। अब देह और कर्मका सम्बंध है तो ये बाहरी बातें मामूलीसी रह

गयीं। उसके नीचे मुनि जन जिनका अपने आत्माकी ओर विशिष्ट ध्यान रहता है उनके ही भाई बन्धु हैं प्रभु और जो यहाँ सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हैं। घरमें रहता है, किन्तु सम्यक्त्वका अनुभव जगा है वह भी अपनी श्रद्धामें समस्त विभावोंसे मुक्त है और अपने आपमें अपने ज्ञानानुभवका आनन्द अमृतका पान किया करता है। तो ऐसी ही स्थिति एक पवित्र निर्वाण जैसी स्थिति है, और यही परम कल्याण है।

(६६) **प्रभुनामोंकी आत्मस्वरूपवाचकता**—जितने प्रभुके नाम बताये जाते हैं, १००८ नाम तो सहस्र नाममें हैं और उसीमें ये सब नाम आ गए—जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम। ये सब नाम जिस आत्माके रखे गए हैं उसमें मैं राग छोड़कर पहुंच जाऊँ तो फिर यहाँ आकुलताका कोई काम नहीं है। ये सब नाम इस आत्माके ही बने। लाग कहते हैं जिन। जिनका अर्थ है जो रागद्वेषको जीते उसे जिन कहते हैं। कौन जीतेगा? क्या पुत्र? मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप रागद्वेषको जीत सकने वाला हूं। तो इस आत्मा का ही नाम जिन है। शिव—जो कल्याणमय है। आत्माका जो ज्ञानानंदस्वरूप है वही कल्याणरूप है, वही शिव कहलाता है। तो आत्माको ही शिव कहते हैं। ईश्वर—जो ऐश्वर्यशाली हो उसे ईश्वर कहते हैं। और ऐश्वर्य नाम किसका? ऐसे सामर्थ्यका नाम कि अपने आरामके लिए, अपने सुखके लिए

किमी दूसरेका मुख न ताकना पड़े, उसीको तो लोग ग्रामपति कहते हैं, ग्रामका राजा (मुखिया) कहते हैं। उसे किमी भी आरामके लिए, किमी भी प्रतापके लिए, दूसरेकी आधीनता नहीं, किसी भी प्रतापके लिए दूसरेकी आधीनता नहीं करनी पडती। खाने-पीने, पहिनने, ओढ़ने आदिकी सभी चीजें उसके खेतोंसे पैदा हो जाती हैं। सभी प्रकारके अनाज, सभी प्रकार की सब्जियाँ, सभी प्रकारके मसाले उसके खेतोंमें ही पैदा हो जाते हैं। यहाँ तक कि कपास भी पैदा हो जाता है। उस कपासका सून कातकर कपड़े भी बना लेता है। तो गाँवके जमींदारको अपने किसी कामके लिए किसी दूसरेका मुख नहीं देखना पड़ता। कोई कहे कि मिट्टीके तेल वगैरह अन्य चीजें तो बाहरसे तो लानी ही पड़ेगी, तो भाई ऐसी बात नहीं इस जमीनसे ही ये सब चीजें प्राप्त हो जाती हैं। कोईसी भी चीज ऐसी नहीं है जिससे उस गांवके जमींदारको परतंत्र होना पड़े। उसे बोलते हैं ग्रामका ईश्वर। और यह आत्मा कितना ईश्वर है कि जो चाहिए ज्ञान, आनंद, मुक्ति, पवित्र स्थिति, सर्व कुछ आत्माकी निधि इस आत्मामें मौजूद है। तो अपने ऐश्वर्यका उपभोग करनेके लिए इस आत्माको किसी दूसरेकी आधीनता नहीं करनी पड़ती, इसलिए इस आत्माका ही नाम ईश्वर है।

(७०) 'ब्रह्मा' शब्दका अर्थ— ब्रह्मा—जो सृष्टिको रचे उसे ब्रह्मा कहते हैं। व्यवहारदृष्टिसे भी देखो तो इस कर्मभूमि

की आदिमें सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान हुए, एक प्रतापी परमेश्वर हुए। उस समय जनताको इन्होंने बहुत विपत्तियोंसे बचाया। जब कुछ खाने-पीने तकका साधन न रहा, भोगभूमि के कल्पवृक्ष कांतिहीन हो गए तब सब विधियां भगवान आदिनाथने बतायी थीं। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पी और सेवा ये ६ प्रकारके कार्य जनताको बताये थे। तो देखो—यह एक नवीन सृष्टि ही कहलायी। जब एक विकट समस्या लोगोंके सामने थी तब उस समय समस्त समस्याओंका समाधान किया तो वह एक तरहसे सृष्टि ही कहलायी। एक नई रचनासी हुई, तो इस नई सृष्टिके उपदेश कर्ता आदिनाथ भगवान थे। तो जिन लोगोंकी दृष्टि हुई कि कोई ब्रह्मा हुए तो वे उन्ही आदिनाथको ही दृष्टिमें लेकर कहते हैं। इन्हीको आदिम बाबा कहते हैं। जो आदिमें हुए हो सो आदिम। कोई चतुर्मुख कहते हैं याने ब्रह्माके चार मुख हुए हैं। ये आदिम भगवान जब समवशरणमें विराजे थे तो उनका मुख चारों ओर दिखता था। प्रत्येक तीर्थङ्करका मुख चारों ओर दिखता है। कोई लोग महादेव कहते हैं। तो देवोंमें महान् देव पहिले वही थे। कोई कैलाशपति कहते थे। ये प्रभु उस कैलाशपर्वतसे मोक्ष गए। तो जितने लोग नाम रखा करते हैं। पहिले आरंभ में देवताका स्मरण करते हैं वे इस ही आदिनाथ भगवानका स्मरण करते हैं। तो यही है ब्रह्मा अर्थात् आत्मा है ब्रह्मा।

जो सृष्टिको करता रहे सो ब्रह्मा। मेरी सृष्टिको करने वाला मैं। मेरे परिणाममें जैसी स्थिति आयगी उस ही के अनुरूप काम होगा। तो मेरी सृष्टिका रचने वाला मैं ही तो हूं। तो ब्रह्मा ही यह आत्मा है।

(७१) राम, विष्णु व बुद्धका अर्थ—राम—जहां योगी जन रमण करें सो राम। योगी जन किसमें रमा करते हैं? कहां अपना उपयोग ध्यान लगाये रहा करते हैं? वह यही तो आत्मतत्त्व है। यही तो ज्ञानस्वभाव है जो कि समाधिगम्य है। हम आप सब उसे बहुत स्पष्ट रूपसे जान सकते हैं, मगर यह त्याग करना होगा कि कुछ क्षणको बाहरकी सारी बातें भुला दें। किसीको भी ज्ञानमें न लायें, आप इस समय ही कर डालें सो नहीं कह रहे, पर आप परीक्षा कर लें कि जिस समय आप सर्व बाह्य पदार्थोंके ध्यानसे हट जायेंगे और केवल एक अपने ही ज्ञानस्वभावमें रह जायेंगे तो आपको एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होगा। तो योगी जन जिसमें रमण करते हैं और अलौकिक आनन्दका उपभोग करते हैं वह है यही आतमस्वभाव। यही कहलाता है राम। विष्णु—जो व्यापक हो दुनियामें वह कहलाता विष्णु। यह तो शब्द का अर्थ है। यह आत्मा व्यापक है। इसका ज्ञान लोकालोक में फैला हुआ है। बुद्ध—जो ज्ञानमय हो उसे बुद्ध कहते हैं। तो बुद्ध है यह ही ज्ञानस्वरूप आत्मा। हरि—जो पापोंको हरे

हरे सो हरि। हम अपने पाप किया। इनको दूर करने कौन आयगा ? कोई दूसरा पाप हर देगा क्या ? अरे मैं ही अपने पापोंको नष्ट कर सकता हूं। मैं ही हरि हूं। तो ये सब जिस आत्माके नाम हैं उस आत्मामें यदि मैं राग छोड़कर पहुंच जाऊँ, रम जाऊँ तो फिर वहाँ आकुलताका कोई कार्य नहीं रहता। तो ऐसा जो यह ज्ञानानुभव है सो ही परम कल्याण रूप है।

(७२) **ज्ञानानुभवकी परमार्थशकुनरूपता**—आत्माका सहज पवित्र ज्ञानभावका जो अनुभव है इसीको ही सगुन कहो, मंगल कहो, कल्याण कहो, सर्व कुछ यह आत्मतत्त्व है। लोग सगुनकी बातें बाहर ढूंढ़ते हैं। कहीं हिरन दाहिनी ओर दिख जाय तो यह सगुन कहलाता है। तो देखिये—पहिला हाथ एक कार्यकारी होता है और दाहिना हाथ स्वयं एक बडा आधार माना जाता है। जैसे किसी पुरुषसे बड़ा सहयोग मिल रहा तो लोग यह कहते कि यह मेरा दाहिना हाथ है। इसके बिना तो मैं कुछ काम कर ही नहीं सकता। तो यों दाहिनी तरफकी बड़ी पवित्रता मानी जाती है। और इस ओर दिख जाय हिरण तो लोग कहते हैं कि यह बड़ा सगुन हो गया। अरे वह हिरण स्वयं सगुन है, क्योंकि वह अनासक्त जीव है, हिरण घास खा रहा हो और जरासी भी खटपटकी आवाज आ जाय तो वह झट घासको छोड़कर भाग जाता है। उसे

उस घासमें आसक्ति नहीं रहती। इस आसक्तिके कारण हिरण को एक पवित्र जीव मानते हैं। और वह दिख गया तो उसके दिखनेसे अनासक्ति अविकारी ज्ञानस्वभावकी याद होना चाहिए तभी तो सगुन है। तो ऐसा वह सगुन माना जाता है, क्योंकि आत्माकी सुध मिली है। और भी जितने पदार्थ हैं, जिन्हें सगुन कहा करते हैं वे आत्माकी सुध करानेमें कारणभूत हैं, अतएव उन्हें सगुन माना है, और कोई अपने आत्माकी सीधी दृष्टि बनाये तो वह तो सगुनकी मूर्ति ही बन गया। तो यह आत्मा जब अपनी दृष्टिमें आया तो यह ही फलित रूप है। यह ही सगुन है, यह ही अपने लिए सर्वस्व मंगलरूप है। सो किसी बाह्य पदार्थमें क्यों दृष्टि जाय? दृष्टि अपने आरामकी बनायी जाय। और अपने आपमें निर्विकल्प होकर झलक जाय तो उसमें अपनेको आराम मिलेगा। बाह्य पदार्थोंमें मोह राग करनेसे आराम कभी नहीं मिल सकता। ऐसे निर्मल भावोंके द्वारा अपने आपमें पवित्र विश्राम करने वाला पुरुष जो कुछ परमात्मस्वरूपके, ज्ञान ज्योतिके, अलौकिक आनन्दके दर्शन करता है वही पुरुष परम कल्याण करता है। ऐसा करनेके लिए हमें ज्ञानार्जनमें विशेष समय देना चाहिए। ज्ञानार्जन करनेसे हमारा उपयोग विशुद्ध रहेगा, पुण्यबंध होगा और उससे हमारा भविष्य उज्ज्वल होगा।

स एव परमं दानं स एव सुखदायकः।

स एव परचैतन्यं स एव गुणसागरः ॥१६॥

(७३) **स्वानुभवकी परमत्यागरूपता**—परपदार्थको पर जानकर और अपने आत्माको निज जानकर परसे उपेक्षा करे और निज ज्ञानस्वभावमें दृष्टि लगाये, मैं यही ज्ञानमात्र हूं, इस तरह जो अपनेको केवलज्ञान स्वरूप ही अनुभवता है उस अनुभवनमें जो परमात्मत्वका दर्शन होता है, समस्त भ्रम समाप्त हो जाते हैं वह अनुभव ही वास्तविक उत्कृष्ट त्याग है। त्यागमें लोग बाह्य वस्तुओंका परित्याग करते हैं। पर बाह्य वस्तुओंमें लगावका कारण जो आत्माका भ्रम है, अज्ञान है, उसका त्याग जब तक न हो तब तक बाह्य वस्तुके त्यागसे कोई फायदा नहीं पहुंचता। ज्ञानीको अपने भीतरमें भेदविज्ञान जगा है कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं और जितने विभाव विषयकषायके परिणाम हैं वे सब अज्ञान हैं, मेरेसे निराले हैं। मैं इनको न अपनाऊंगा। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूपमें ही अपना अनुभव करूंगा। मैंने सब कुछ दान किया, सर्वस्व बलिदान किया। तो विशुद्ध ज्ञानका अनुभव ही उत्कृष्ट त्याग है, क्योंकि बाह्य वस्तुयें तो इस आत्मामें चिपटी ही नही हैं। किसी भी परपदाथका आत्मामें प्रवेश ही नहीं है, फिर उसका त्याग करना क्या कहलाया? उसका त्याग तो है ही, क्योंकि वह भिन्न है, भिन्न जगहमें है। परन्तु परवस्तुके सम्बधमें जो राग लगा रखा उसे तो ग्रहण कर रखा है, उस रागके छोड़नेका

नाम त्याग है। बड़े-बड़े मुनि जनोंने यही तो समस्या सुलझायी थी कि त्याग बाहरमें तो हो रहा है, पर करना है त्याग नन्दस्वरूप है अपने अंदरमें। रागद्वेष मोहका त्याग है तो वही वास्तविक त्याग है और उसीको ही उत्कृष्ट दान कहते हैं।

(७४) **स्वानुभवकी सुखदायकता**—यह ज्ञानानुभव ही वास्तवमें सुखका देने वाला है। सुख शान्तिके लिए बाहरमें बहुत दौड़ मच रही है, लेकिन सुख-शान्ति मिल नहीं पाती, क्योंकि बाह्य पदार्थकी जब दृष्टि की है तो भीतरमें हम रीते बन गए, क्योंकि हमने अपना सब उपयोग बाहर फेंक दिया। तो जब भीतर हम रीते हो गए तो सुखकी आशा फिर क्या हो सकती है? बाहरकी दृष्टि करनेमें एक अपूर्णता विदित रहेगी। अभी यह काम पूरा नहीं हुआ। इसे अभी पूरा करना है तो बाहर ही बाहर मन चलेगा, और कोई भीतर निरखे कि मैं तो एक सत् पदार्थ हूं, पूरा हूं तो सुखदायक स्थिति अपनी हो ही सकती है। हम अपने मनको संयत बनायें और संतोषमें रखें। और यह जानकर तो संतोष होना ही चाहिये कि जगतमें जितने भी जीव हैं उन सब जीवोंसे मनुष्यजीवन बहुत ऊँचा जीवन है। कीड़ा मकोड़ोंका जीवन क्या जीवन? पशु-पक्षियोंका जीवन भी ऐसा ही दूभर है। तो सब जीवोंके जीवनसे यह मनुष्यका जीवन सबसे ऊँचा जीवन है, इसलिए सन्तोष रहना चाहिए कि हमने बहुत कुछ उपार्जन कर लिया

जो आज मनुष्य बने हैं। अब हम अपना आनंद भंग न करें। अपनेमें बसे हुए परमात्मतत्त्वकी उपासना करके अपना भवितव्य उज्ज्वल बना लें, यह प्रयत्न होना चाहिए, क्योंकि एक इस जिन्दगीके लिए कुछ कर डाला, धन जोड लिया या लोगों में इज्जत बना ली तो इससे तो मेरा पूरा नहीं पड़नेका। मैं केवल मनुष्य ही तो नहीं हूं। मनुष्यके बाद भी तो मैं रहूंगा। तो इस ही मनुष्यशरीरके लिए कुछ काम कर डालें। उससे आत्माका कोई भला नहीं होनेका। आत्मा अपना भला करना चाहे तो उसे सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका यत्न करना होगा। मैं अपने आत्माकी सच्ची श्रद्धा बनाऊँ, आत्मा का सही ज्ञान करूँ और आत्मामें ही रमकर तृप्त रहूं, बाहरी पदार्थ मुझे लुभा न दे, उस तृष्णा और लोभमें पडकर मैं अपनेको न भूल जाऊँ, ऐसी स्थिति अगर बन सकती है तो वही वास्तविक धर्मकी स्थिति है और यही अनुभव सुख देने वाला अनुभव है। तो आत्मा जब अपने ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा करे कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, जानना ही मेरा कार्य है और आत्मा से ही मेरा पूरा पड़नेका है, रागद्वेष या परपदार्थके विकल्पसे मेरा पूरा न पड़ेगा। ऐसा जो बोध करता है वह स्वयं अपने को सुख देने वाला है।

(७५) **ज्ञानानुभवकी परमचैतन्यरूपता**—अपने आपका परिचय करना यह एक बहुत बड़ा पौरुष है। इसके लिए बड़े

बड़े राजा लोग सारा राजपाट त्यागकर योगियोंके पास रहकर वनमें इसकी साधना करते थे। तो उन्होंने यह समझा कि बाहरी वस्तुके लगावमें इस आत्माका भला नहीं, न वहाँ शान्ति मिल सकती। तब ही तो त्यागा, और वनमें जाकर उनको शान्ति मिली तब ही तो वनमें रह रहे हैं। अपने आत्माको अपना आत्मा विदित हो तो यों समझिये कि जिसे लोग कहते हैं कि दूसरा आदमी साथ रहे तो बातचीतमें समय गुजर सकता है तो योगीको अपना आत्मा साथ है तो अपने आत्मासे ही बात करनेमें अपने आतमाकी ही सम्पदा निरख-निरखकर तृप्त रहा करते हैं योगी, यही उत्कृष्ट चैतन्य है जो अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव हुआ है यही आत्माका उत्कृष्ट चैतन्यभाव है। हैरानी तो इस बातकी है कि खुद ज्ञानस्वरूप है और खुदका ज्ञान नहीं किया जा रहा है, जो बाह्य पदार्थ हैं, अज्ञान हैं, जड़ हैं, उनका तो ज्ञान यह जीव बड़ा सुगम समझता है, उसे समझ लिया, वैभव समझ लिया, घर समझ लिया, व्यापार समझ लिया। बाहरी पदार्थका ज्ञान करना तो इस जीवने बड़ा सुगम मान रखा है। और जो स्वयं ज्ञान वाला है उसका ज्ञान करना इसने कठिन मान रखा है, कठिन तो है नहीं। बाहरी वस्तुसे उपयोग हटे तो अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करना इसके लिए बड़ा सुगम है, पर बाह्य पदार्थोंसे वैसे उपयोग हटे, इसके लिए इतना तो मोटे रूपसे अभ्यास

बनाना चाहिए कि ये सब बाह्यपदार्थ मेरेसे न्यारे हैं, परपदार्थ हैं, इनमें स्वयं उत्पाद व्यय धर्म है, वे स्वयं स्वयंमें अपनी परिणति बनाते हैं। मैं आत्मा उनमें कुछ नहीं करता। मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, और फिर थोड़े दिनोंका यह जीवन है, इस जीवनमें जो कुछ समागम पाया है उनसे मेरा कोई आगे सम्बन्ध नहीं बननेका। यह यहांका यहाँ ही छूट जाना है ऐसी ही कुछ बातोंकी श्रद्धा करें तो इनसे उपयोग अपना हटा सकते हैं। जैसे ही परसे उपयोग हटा कि अपनेमें उपयोग लगता है। तब इसको विदित होता है कि मेरा उत्कृष्ट स्वरूप क्या है ? यह चैतन्य ही मेरा सर्वस्व स्वरूप है।

(७५) **ज्ञानानुभवकी गुणसागरता**—यह आत्मा अथवा ज्ञानानुभव गुणोंका सागर है अर्थात् इसमें गुण ही गुण समस्त भरे पड़े हैं। आत्मामें दोष नहीं है, ज्ञानानुभूतिमें निर्दोषता है। आत्माका स्वरूप ही दोष वाला नहीं है, स्वरूप है शुद्ध चिदानन्दरूप। इसमें किसी भी प्रकारका कलंक नहीं है। जीवमें जो कलंक लगा है वह कर्मउपाधिके सम्बन्धसे लगा है। कोई भी वस्तु हो वह अपने आप बुरी नहीं होती। उसमें किसी दूसरेका सम्बंध हो तो उसमें बुरापन आता है। जैसे चौकी तैयार हुई तो उस समय वह सही है, बादमें उसपर मैल लग जाय या कोई रंग वगैरा डाल दिया जाय तो उस सम्बंधसे इसका स्वरूप बिगड़ा, मगर इसका जो असली स्वरूप

है वह इसके कारण नहीं बिगड़ता। किसी भी चीजका बिगाड़ उसके खुदके कारणसे नहीं होता। दूसरेके सम्बन्धके कारण होता है। तो मेरा ग्रात्मा स्वभावसे ग्ररहंत सिद्धकी तरह है। परमात्मस्वरूप है। इसमें बिगाड़का कोई काम नहीं है, लेकिन कर्मका संयोग है ग्रौर बाहरी विषयके साधनोंका ख्याल बनाया जा रहा है तो उससे बिगाड़ है। तो धर्मपालनमें यह ही कोशिश की जाती है कि परपदार्थसे मेरी निवृत्ति हो।

(७६) परनिवृत्तिसे गुणविकासका अवसर—गृहस्थ-धर्ममें ५ ग्रणुव्रत बताये गए हैं—(१) ग्रहिंसाणुव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३) ग्रचौर्याणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत ग्रौर (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। ग्रणुव्रतके मायने है ग्रपनेको कुछ कुछ विरक्त करना। गृहस्थपद एक ऐसा पद है कि उसमें सर्व प्रकारसे हिंसाका त्याग नहीं हो सकता। यदि कोई शत्रु ग्राक्रमण करे तो उसका बचाव भी गृहस्थको करना पड़ेगा ग्रौर उसमें हिंसा होगी, तो उसका त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता। उद्यम करेगा तो व्यापारमें, उद्योगमें भी ग्रनेक हिंसायें हो सकती हैं। ध्यान रखकर भी, उसकी सावधानी रखकर भी हिंसा हो सकती है। तो इस हिंसासे गृहस्थ नहीं बच सकता। रसोई बनानेमें, झाड़ू बुहारी करनेमें, इतनी साव-धानी रखनेपर भी हिंसा सम्भव है। उसका त्याग गृहस्थके नहीं निभ सकता। एक संकल्पी हिंसाका ही त्याग निभ

सकता है याने किसी जीवको मरनेका इरादा न बनाये, इस हिंसाका तो त्याग बन सकता, अन्य हिंसाका त्याग नहीं बन सकता। इस प्रकार गृहस्थका अहिंसा अणुव्रत कहा है।

(७७) शेष चार अणुव्रतोंका संक्षिप्त विवरण—सत्याणुव्रत—सत्यका भी पूर्णरूपेण पालन गृहस्थ नहीं कर सकता पूर्ण सच भी बोले, लेकिन वह धर्मकी और आत्माकी बात न हो, बाहरकी बात हो सो उसे भी असत्य माना गया है। हम अपने आत्माके ही काममें लगें, उसकी ही बात करें, वही सत्य है, तो गृहस्थ सत्यको पूर्णतया नहीं निभा सकता इसलिए वह भी अणुव्रत है। अचौर्याणुव्रत—गृहस्थ इसका भी पूरा निभाव नहीं कर सकता। कितनी ही सरकारी और व्यवहारी ऐसी बातें हैं कि कुछ न कुछ चोरीकी बात न जाने भी हो पड़ती है। हाँ वह तो ऐसी चोरीका त्यागी है कि जानकर दूसरेकी चीजें नहीं चुराता, पर वर्तमानमें भीतरमें समस्त परवस्तुओंका राग छूटे, ऐसा अचौर्य तो निभ नहीं सकता। सो उसे अचौर्याणुव्रती कहा है। ब्रह्मचर्याणुव्रत याने अपनी स्त्रीको छोड़कर शेष सब स्त्रियोंको माँ, बेटी, बहिन समझें, यह निभाव हो सकता है, लेकिन गृहस्थ है तो उसकी पत्नी है। उसका त्याग नहीं, शेषका ही त्याग है तो अणुव्रत इसे भी माना गया। ५वाँ अणुव्रत है परिग्रह परिमाणाणुव्रत। परिग्रहका परिमाण बताया है गृहस्थोंको कि वे प्रमाण कर लें।

वर्तमानमें जो अपनी जैसी स्थिति समझता हो उस माफिक करीब-करीब उसका परिमाण कर लें तो उस प्रमाणसे यह तो हुआ कि आगेके परिग्रहमें लालसा नहीं है। तो गृहस्थके कुछ अपरिग्रह है, कुछ परिग्रह है सो यह एक अणुव्रत है, इससे गृहस्थको बहुत लाभ है। किसीने जो कुछ परिमाण किया और पुण्योदयसे उससे अधिक आय आ ही गई तो वह तुरन्त उसे अलग धर्मफंडमें निकाल लेगा, अपने उपयोगमें न लगायेगा। ऐसा होते-होते उससे बहुत धार्मिक कार्य बन जायेंगे। उससे उस व्यक्तिकी भी शोभा है और धर्ममार्गमें उसकी प्रगति है। यदि समस्त बाह्य वस्तुओंका पूर्णरूपसे त्याग हो तो वह तो उसके लिए उत्तम है ही, मगर त्याग न कर सकें तो उसका परिमाण तो रखें। कुछ सीमा तक त्याग करें। जो परवस्तुओं से हटा हुआ रहेगा उसके गुण विकासको प्राप्त होंगे और जो परमें ममता रखेगा, तृष्णा करेगा तो उसके गुण विकासको प्राप्त नहीं होते।

(७८) **आत्माकी गुणसागरता**—यह आत्मा स्वयं गुणका समुद्र है। गुणोंसे भरा हुआ है। गुण क्या है? दर्शन, चारित्र, आनन्द ये सब गुण ही तो हैं। जीवमें स्वयं दोष नहीं है, दोष तो परवस्तुकी छायाका है। जैसे दर्पण है तो वह पूरा स्वच्छ है, साफ है, उसके आगे कोई चीज आ जाय तो उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह परकी छाया है। दर्पण स्वयं अपने

आपमें छायारूप नहीं, दोष वाला नहीं। वह तो निर्दोष है, इसी तरह आत्मा भी निर्दोष है, इसमें जो कोई दोष आया है, क्रोध, मान, माया, लोभ, कामविकार ये सब दोष आत्मा के कारणसे नहीं हुए, किन्तु कर्मका सम्बंध है, उससे ये दोष चले आ रहे हैं। तो आत्मा स्वयं अपने आप गुणका ही समूह है, ऐसा अपने आपको ध्यानमें लेना। आत्माके ध्यानके प्रसाद से वर्तमान समय भी शान्तिमें गुजरता है और वहाँ कर्मबन्ध होगा तो एक विशिष्ट पुण्यबन्ध होगा तो आगामी काल भी सुखमें गुजरेगा और धर्मका सम्बंध बने तो निकट कालमें मुक्ति को प्राप्त कर लेगा, इसलिए आत्माका जितना जो लगाव रखे, ध्यान रखे, ज्ञान करे, मनन करे वह उतना ही अधिक लाभमें है और जो आत्माको छोड़कर परवस्तुके सम्बन्धमें सारा मन लगाये तो वह हानिमें ही है। चाहे इस जीवनमें भौतिक स्थितिमें कितना ही बड़ा हो जाय, लेकिन उस आत्माके गुणों का विकास नहीं हो सकता। शान्ति मिलती है तो गुणविकास में शान्ति मिलती है, दोषमें शान्ति नहीं है।

परमाल्हादसम्पन्नं रागद्वेषविवर्जितम्।
अर्हन्तं देहमध्ये तु यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

(७९) अपनेको निर्भार परमाल्हादसम्पन्न निरखने में पाण्डित्य— जो पुरुष अपने इस देहमें ही अपने स्वरूपको जान रहा है और जान रहा है कि यह अरहंत स्वरूप है, तो

वही ज्ञाता वास्तवमें चतुर है, पंडित है। वह शरण आल्हाद से सम्पन्न है, आत्मामें आनन्द स्वयं होना है। जैसे जब कोई राग न हो, बड़े ही आरामसे बैठे हों, किसीको अपने चित्तमें न बसाये हों, किसी परपदार्थके पीछे चिंतित न हो रहे हों तो देखिये उस समय कितनी शान्ति मिलती है? देखो वह उस समय कुछ खा पी नहीं रहा, कुछ विषयभोगोंमें नहीं लग रहा, फिर भी उस समय उसे कितनी अद्भुत शान्ति है। तो वह शान्ति किस बातकी है?.... बस उस समय रागद्वेषकी वृत्ति नहीं है इससे शान्ति है। इस जीवकी बरबादी रागद्वेष मोहसे बनती है। अपना एक इस प्रकारका विश्वास हो कि ये सब भी जीव हैं, इनके साथ भी कर्म लगा है। इनका सब कुछ इनके कर्मोदयसे हो रहा है। मान लो कोई बहुत बड़ा कुटुम्ब हो, करीब ५० लोगोंका परिवार हो, उनका पालन-पोषण किसी एक व्यक्तिके ऊपर निर्भर होता तो यह बड़ी मुश्किल बात थी, लेकिन यह समझो कि वे परिवारके जितने लोग हैं सबका अपना-अपना पुण्य काम कर रहा है जो कि सब काम कराता रहता है। तो ऐसा जानकर अपने पर भार न समझना चाहिए कि मेरेपर कुटुम्बका बड़ा भार है। अरे भारकी कुछ बात नहीं। कुटुम्बमें जितने जीव हैं उन सबके साथ उदय लगा हुआ है और उस उदयानुसार उनकी बात बन रही है। उसमें बोझकी बात क्या?

(८०) **पापका उदय होनेपर सुखकी असंभवताका उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण**—एक अकृतपुण्य नामका राजपुत्र था। उसके उत्पन्न होते ही राज्यमें विघ्न आने लगे। और अनेक समस्यायें होने लगीं। प्रजाको बहुत दुःख पहुंचने लगा। तो प्रजाके लोगोंने राजासे प्रार्थना की कि आपका जो यह पुत्र हुआ है, जबसे उत्पन्न हुआ है तबसे नगरमें हानि है, आपके राज्यमें हानि, आपके कार्यमें हानि। यह पापी जीव है। इसने पहिले पुण्य नहीं किया। उसे आप राज्यसे बाहर निकाल देंगे तब ही आपका राज्य ठीक चलेगा और हम लोग सुखसे रह सकेंगे। आखिर राजाने सबके कहनेसे उसे राज्यसे निकाल दिया। उस राजकुमारकी माँ भी ममतावश उसके साथ चली। राजाने उसके साथ धन-दौलत, अनाज वगैरा बहुत कुछ साथ में भेज दिया, इसलिए कि बेटेको कहीं तकलीफ न हो। पर होता क्या है कि उसका सारा अनाज धीरे-धीरे बिखर गया, सारा धन भी कोयला बन गया। तो जब किसीके पापका उदय है तो उसे कोई सुखी नहीं बना सकता और जब पुण्य का उदय है तो उसे कोई दुःखी नहीं बना सकता। सबके साथ अपने-अपने कर्म लगे हैं। मेरा उत्तरदायी मैं ही हूं, मेरे पर अन्य किसीका भार क्या? ऐसा जानकर अपने आपके उपयोगको हल्का बनायें। भाररहित बनायें और बाहरसे उपयोगको हटाकर विश्रामसे बैठ जायें। यदि मुझे आत्माका

विशेष ज्ञान नहीं है तो न रहो, इतनेपर भी हम यह काम करें कि जब जगतके सारे समागम सारहीन हैं, भिन्न हैं, दुःख के कारणभूत हैं तो उन किसीका भी हम ख्याल न रखें। किसी भी परवस्तुको दृष्टि न बनायें, तो ऐसी स्थितिमें अपने आप अपने आत्माका ज्ञान बन जायगा। लेकिन जब परपदार्थ में रुचि लगायी है तो आत्माका बोध कैसे हो सकता है? सो परका उपयोग हटे तो एक उत्कृष्ट आल्हाद, उत्कृष्ट आनन्द उत्पन्न होता है।

(८१) निजको रागद्वेषविवर्जित रूपमें ध्यान करनेमें पाण्डित्य—मैं आल्हादसे सम्पन्न हूं और रागद्वेषसे रहित हूं। मैं अपने ही सत्त्वके कारण रागद्वेष नहीं रख रहा। ये राग-द्वेष तो सम्बन्धसे हो रहे। तो यह जानें कि ये तो सम्बंधके ऐब हैं, मेरे ऐब नहीं, मैं तो गुणोंका समुद्र हूं। तो जो जीव परमआल्हादसे सम्पन्न, रागद्वेषसे रहित अरहंत देवके स्वरूपको अपने देहमें जान रहा है वह पंडित है। ध्यान करनेकी चार धाराणयें बतायी गई हैं– (१) पृथिवीधारणा, (२) जलधारणा, (३) अग्निधारणा और (४) वायुधारणा। पृथिवीधारणामें ऐसे चिन्तन किया जावे कि एक आसन लगाकर शरीरको स्थिर करके बैठा हूं और ऐसा सोच रहा हूं अपनेको देख रहा हूं कि मैं आकाशमें बहुत ऊँचे बैठा हूं, जमीनपर नहीं बैठा हूं और मानो यह सब जमीन समुद्रकी तरह है और इस समुद्रमें एक

कमल निकला है बहुत ऊँची नाली वाला। उस कमलपर सिंहासन है, ऐसे उस आकाशमें बहुत ऊँचे बैठा हूं। तो देखो ध्यान करने योग्य कोई ऐसा ध्यान बनाये कि मैं आकाशमें बहुत ऊँचे हूं तो उस आत्मामें निर्भारपन है। रागद्वेष भावके कारण जो हम पर बोझ लदा है वह निकल जाता है और जो अपनेको सोचा जो अरहंतका स्वरूप है सो मेरा है। मैं अर-हंतकी तरह रागद्वेष रहित स्वभावी हूं, ऐसा सोचे तो उसमें और विशुद्धि बढ़ती है। कितनी ही विपदायें, संकट, चिन्तायें, शोक दूर हो जाते हैं और विशिष्ट आनन्दका अनुभव होता है। इसी तरह अग्नि धारणामें यह सोचें कि मेरी नाभिके पास भीतर एक कमल है और वह अष्टदलका कमल है। मानो अनेक गुण हैं उसमें, वह गुणोंका कमल है और उसके ऊपर हृदयके पास एक औंधा कमल है और कर्मकी शक्लका है। मानो ८ कर्मोंका कमल है और आठों इसे ढके हुए हैं। अब एक अपने आत्माके चैतन्यस्वभावके ध्यानके प्रतापसे एक अग्निकी ज्वाला उठी और उसने ऊपरके कमलको जला दिया। मानो आठों कर्म उसके जल गए। वह सोच रहा है ध्यानी कि मेरे कर्म जल गए और रागद्वेष विभावादिक सब जलकर भस्म हो गए, मैं शुद्ध एक आत्मा ही आत्मा रह गया हूं। फिर सोचता है कि अब एक ऐसी वायु चली कि जो कर्म जलकर राख (भस्म) हो गए थे उसको उड़ा ले गई। बादमें

ऐसा जलप्रपात हुआ कि रही सही राख भी धुल गई। अब मैं एक ज्ञानमात्र स्वच्छ परमात्मा हो गया। इस तरहका चिन्तन वह ध्यानी पुरुष कर रहा है। देखिये—यद्यपि वह शरीरमें है, पर जिसका जैसा चिन्तन होता है उसका वैसा ही अनुभव होता है। जब अपनेको भाररहित अनुभव करें तो वहाँ उत्कृष्ट आनन्द प्रकट होता है। ऐसे आनन्दसे युक्त राग-द्वेषरहित परमात्मदेवको जो अपने देहमें जानता है वह पंडित है, बुद्धिमान है।

(८२) **प्रभुमूर्तिदर्शनका अनुराग**—यह विवेकी जब कभी प्रभुमूर्तिके दर्शन करता है तो मूर्तिकी मुद्राको बड़ी टक-टकी लगाकर देखता है। मुद्राको देखनेसे शान्ति, आनन्द, ज्ञानस्वरूपमें रमना, यह दृष्टिमें आयगा और उस समय ऐसा मालूम होगा कि मानो यह ही भगवान विराजे हैं। यद्यपि यहाँ भगवानकी स्थापना है, साक्षात् भगवान नहीं हैं, लेकिन मुद्राको बड़ी रुचिसे देख रहा तो साक्षात् भगवान हैं, ऐसा उसकी दृष्टिमें रहेगा, और स्थापनासे देखेगा तो जितना काम कोई समवशरणमें साक्षात् अरहंतदेवको देखकर निकाल सकता है उतना ही काम यह मूर्तिको देखकर बना सकता है। फर्क इतना ही तो है कि प्रभुकी दिव्यध्वनि खिरती है और यहाँ उसके मुखसे दिव्यध्वनि खिर नहीं सकती। बाकी समवशरणमें भी कोई देखेगा तो शरीर ही देखेगा। अगर कोई अरहंतदेवको

देखना चाहे तो उसे इन नेत्रोंसे वह न दिखेंगे। उन्हें तो ज्ञान द्वारा ही देखा जा सकता है। तो यहाँ मंदिरमें ज्ञानसे विचार कर अरहंतदेवका स्वरूप जान लो, तो उस मुद्राको बड़ी रुचि पूर्वक देखकर एक शान्तिका अनुभव किया जाता है और फिर ऐसी रुचि बनावें कि आँखें पसारकर बहुत देर तक उस मूर्तिको देखें, अब आंखें तो थक जायेंगी देख-देखकर, तो जब आँखें थकने लगें तो ये आँखें गिरेंगी सो इसी भावको लेकर आँखें गिरावें कि लो हमने आँखोंकी पलक द्वारा उस मूर्तिको पकड़ लिया है और पकड़कर हम अपनी आंखोंमें ला चुके हैं और लाकर उसे अपने हृदयमें विराजमान किया है और उसको जैसे अपना मुख है उस तरहसे पलटकर ऐसा विराजमान करें कि स्वयं ही यह मूर्ति स्वरूप अपनेको अनुभव करने लगे। खूब ध्यान अपने भीतरमें इन आंखोंको बद करके करे और जब पुनः आंखें खोलकर वहाँ दर्शन करनेका भाव करें तो अपनी मूर्तिको जो कि हृदयमें विराजमान किया है उसे उठायें, आंखोंमें ले आयें और जैसे जैसे धीरे-धीरे आँखें खोलें वैसे ही वैसे मूर्तिको ले जाकर वहीं सिंहासनपर विराजमान करें। लो जब देख रहा तब भी वहाँ प्रभु है और आँखें बन्द कीं तब भी वहाँ प्रभु है। अन्तः जो अरहंतको जानता है वह पुरुष पंडित है, विवेकी है, अपने कर्ममलोंका नाश करने वाला है।

(८३) **अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभवनेका कर्तव्य**— हम आपको यह ही अनुभव करना चाहिए अधिक समय कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूं, उत्कृष्ट आनन्दमय हूं। प्रभु जो कोई हुआ है वह मेरा ही जैसा आत्मा था और उन्होंने भेदविज्ञान किया, परको पर जाना, निजको निज जाना, परसे उपेक्षा की, निजमें अनुराग किया और अपने आपमें केवल एक ज्ञान-ज्योतिस्वरूपका अनुभव किया। मैं ज्ञान-ज्ञान हूं, ज्ञानके सिवाय मेरा और कोई स्वरूप नहीं। बस इस ध्यानके प्रताप से उनका कर्ममल दूर हुआ और प्रभु बन गए। तो यह ही विधि मैं करूं तो क्यों न प्रभुता पा सकूंगा। मेरा जीवनमें प्रोग्राम केवल एक यह है कि मैं प्रभु बनूं, मैं अरहंत होऊँ, परमात्मा बन जाऊँ, ऐसा अपना प्रोग्राम सोचना चाहिए। मुझे और कुछ नहीं बनना है, क्योंकि अन्य कुछ बननेमें मेरे का सार कुछ न मिलेगा। सब स्वप्नवत् असार बातें हैं, इसलिए मैं और कुछ नहीं बनना चाहता। मुझे तो परमात्मस्वरूप पाना है, प्रभु होऊँगा, ऐसा अपनी प्रभुताका प्रोग्राम यदि चित्तमें है तो ज्ञानकी बात, धर्मकी बात, मुक्तिकी बात सब सुहाने लगेंगी और अपनेमें प्रभुताका प्रोग्राम नहीं है तो धर्म कितना ही करते जायें, वह एक करना ही है, पर वास्तविक लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए अपने आपको ऐसा सोचें कि जो अरहंत स्वरूप है, सो मेरे स्वरूपमें है। मैं अपनेको

ज्ञानमात्र निर्दोष वीतराग आनन्दमय निरखता रहूं और किसी परवस्तुको महत्त्व न दूं तो मैं अपने इस ज्ञानमय आत्मतत्त्वके ध्यानके प्रतापसे परमात्मस्वरूप हो सकूंगा। तो ऐसा अपना ख्याल बनना चाहिए कि मैं मनुष्य हुआ हूं तो इसलिए हुआ हूं कि ऐसा उपाय बना लें कि शरीर कर्म, विभाव, जन्ममरण आदि सारे मेरे संकट समाप्त हो जायें, मैं मुक्त हो जाऊं निकटकालमें और सदाके लिए कृतकृत्य हो जाऊँ। जब तक मैं मुक्त न होऊँगा तब तक मैं कृतार्थ नहीं हो सकता हूं। इससे मेरेको यहाँ किसी समागममें रुचि नहीं है, केवल अपना अन्तः समाये हुए परमात्मस्वरूपको दर्शन करके इसी स्वरूप को प्राप्त करूंगा, ऐसा अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

आकाररहितं शुद्धं स्वस्वरूपव्यवस्थितम्।
सिद्धमष्टगुणोपेतं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥२१॥
तत्सदृशं निजात्मानं प्रकाशाय महीयसे।
सहजानन्दचैतन्यं यो जानाति स पण्डितः ॥२२॥

(८४) अन्तर्दृष्टिबलसे सिद्धसदृश आत्माके ज्ञाताका पाण्डित्य—जो अपने आत्माको जान लेता है वही वास्तवमें पण्डित है। अपने आत्माको किस प्रकार जानना चाहिए? जैसा सिद्धभगवानका आत्मा है उसी प्रकार मेरे आत्माका स्वरूप है। इस जीवमें दीनता, गरीबी, क्लेश क्यों उत्पन्न होता है कि इसमें जो अपूर्व निधि भरी हुई है, स्वयं ही यह ज्ञाना-

नन्दस्वरूप है, उसका पता नहीं, उसकी सुध नहीं तो बाहरमें बाह्य पदार्थोंसे सुखकी आशा रखता है। बस यही इसके क्लेश का कारण है जो चीज अपनी कुछ नहीं है उसमें इसने लगाव किया है, बस यही दुःखका कारण है। प्रकट सिद्ध है कि जो कुछ भी बाहरी समागम है वह मेरा नहीं है। धन, स्त्री, पुत्र, कुमित्र, टुम्ब, मकान आदि सभी कुछ देख लो, आपके आत्मा का कुछ लगता है क्या? अरे आपके आत्माका तो यह देह भी कुछ नहीं है। तो जब सबसे निराला है यह आत्मा तो ऐसा क्यों नहीं जानते? सच जाननेकी इच्छा सबको रहती है कि मैं जो कुछ जानूं सो सच जानूं? इस लोकमें आपका कोई सहाय न होगा। यह सब भ्रम है कि मेरे बहुत आज्ञाकारी पुत्र हैं, स्त्री हैं, मित्र हैं, बहुत कमाई है, मेरा नाम है, ये मेरे लिए शरण हैं, यह पूरा भ्रम है और ऐसा धोखा है कि जो इस भ्रममें रहेगा उसे अचानक किसी दिन बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा और जन्ममरणके कष्ट मिलना तो उसके लिए एक निश्चितसा ही है। इससे भाई बाह्य पदार्थका शरण मत मानो। शरण समझो अपने ही आत्माको। मेरे आत्माका ज्ञान हो और मेरे आत्माको अपने आत्मामें ही समा जानेकी धुन बने तो यह तो आपके लिए बड़े कल्याणकी बात होगी, बाकी जितनी ममता आदि विभाव है वह सब अकल्याणकी बात है। तो आत्माको जानें, यह ही सबसे बड़ा काम है इस

जीवनमें। कैसा है आत्मा ? सिद्ध भगवानकी तरह। सिद्धभगवानका आत्मा अकेला है वहाँ शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं, विषयकषायके परिणाम भी नहीं, ज्ञानानन्दका पिण्ड है। उस ही तरह यह मैं आत्मा भी स्वभावसे ऐसा ही ज्ञानानन्दका पिण्ड हूं। जो संयोग है, जो समागम है उसको दृष्टिमें न रखें अभी। जब हम अपने आत्माका बोध करते हैं तो आत्माके सिवाय अन्य चीजपर दृष्टि मत रखें अन्यथा परका परिचय हो जायगा और वह ज्ञान प्रधान बन जायगा और आत्माका बोध हो जायगा गौण। तो जब आत्माका ज्ञान करने चले तो इस देहको भी दृष्टिमें न लीजिए, कर्मको दृष्टिमें न रखें। विषय कषायोंको भी मायाजाल समझें।। ये मेरे अस्तित्वसे स्वयमेव नहीं हुए हैं। यह कर्मकी छाया है। मैं तो ज्ञानानन्दका पिण्ड हूँ। सो जिसने सिद्ध भगवानका स्वरूप जाना उसने अपने आत्माका स्वरूप भी जाना।

(८५) सिद्धसदृश आकाररहित शुद्ध आत्मतत्त्वके ज्ञाताका पाण्डित्य—कैसे हैं वे सिद्ध प्रभु ? आकाररहित हैं, निराकार हैं। उसमें किसी भी प्रकारका आकार नहीं है। आकारसे मतलब शरीर नहीं है, कोई भी ढांचा नहीं है। वैसे तो वे प्रभु जिस शरीरसे मुक्त हुए हैं उस शरीरके आकार केवल आत्मा ही आत्मा है। उनके लिए यहाँ आकारपर भी दृष्टि मत दें, उस आत्माका जो कुछ आकार है उसे भी निगाहमें

मत लें। हम तो एक ज्ञानपुञ्जको दृष्टिमें लिए रहें। ऐसे ज्ञान-दृष्टिसे परखे गये सिद्धप्रभु आकाररहित हैं और अन्य समस्त पदार्थोंसे निराले हैं, शुद्ध हैं। शुद्धका अर्थ है कि जिसमें किसी परपदार्थका सम्बन्ध न हो। परपदार्थसे निराला अलग केवल ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व, उसको समझिये शुद्ध। और विशेषतासे शुद्धको समझना है तो यों समझिये कि सिद्धभगवान क्या काम करते हैं जरा देखो— सर्व लोकालोकको निरन्तर जानते रहते हैं और ऐसा शुद्ध जाननेमें उनके आनन्द स्वयमेव बना हुआ है। तो वह जो जानता है सो किसके द्वारा जानता है, उनके शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं जिनके द्वारा वे जानें। तो उनका ज्ञान स्वयं ऐसा स्वतन्त्र शुद्ध है कि अपनी ही ज्ञानपरिणतिके द्वारा समग्र विश्वको जानते रहते हैं, अच्छा वे अपने आत्माको, ज्ञानको, जिसमें सब विश्वका आकार ग्रहणमें आया है उसे जानते हैं किसके द्वारा ? इस ही ज्ञानके द्वारा, और किस लिए जानते हैं ? बस जानन बनाये रहनेके लिए जानते हैं।

(८६) लौकिक जानन व प्रभुके जाननेमें भिन्नता— जैसे यहाँके लोग कोई चीज जानते हैं तो उसका प्रयोजन कुछ और रखते हैं– मिल जाय, मेरे पास रहे, उपभोग करूँ, मौज लूं, विषय लूटूं आदि, लेकिन सिद्ध भगवान जो जानते रहते हैं सारे विश्वको, उनके जाननेका क्या प्रयोजन है ? बस जानना बना रहना यह ही प्रयोजन है। अब देखो—उनकी

जो पद्धति है उस पद्धतिको देख कर अपनेमें यह बात घटा सकेंगे कि हम यह गल्ती कर रहे इसलिए दुःखी हैं। सिद्ध भगवान जो कर रहे उसमें गल्तीका नाम नहीं है, वे पूर्ण निर्दोष हैं। जैसा वे करते हैं, वैसी ही कुछ मेरी क्रियायें होतीं तो फिर मेरेको कोई क्लेश न होता। तो प्रभु जानते हैं, जानने के लिए जानते हैं, अपने ज्ञानके द्वारा जानते हैं और अपने ज्ञानमें जानते हैं। कहां जानते हैं प्रभु ? अपने ज्ञानमें। स्व-तंत्रतासे जानते हैं, और जानते भी क्या हैं ? अपने ज्ञानके आकारको। तो जहां ६ कारकोंमें ऐसी स्वतंत्रता बसी है इसे कहते हैं शुद्धता। समस्त कारक समूहकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण हो जाय उसे भी शुद्धता कहते हैं। समस्त बाह्यपदार्थोंसे निराला हो उसे भी शुद्धता कहते हैं। तो सिद्ध भगवान शुद्ध हैं।

(८७) **प्रभुभक्ति और आत्मस्मरणका कर्तव्य**—देखो इस अशरण संसारमें सिवाय दो कर्तव्योंके और कोई सहाय नहीं है— प्रभुका जो शुद्ध स्वरूप है उसका ध्यान करें, ज्ञान करें और अपने आत्माके सहज गुणोंका ज्ञान करें। बस इन दो कार्योंके करनेसे शान्ति मिलेगी और निकटकालमें ही मुक्ति प्राप्त हो जायगी। और इन दो लक्ष्योंको छोड़कर बाकी अन्य पर ध्यान गया तो वहाँ दृष्टि बिखर जायगी और केवल संसार की गति रह जायगी। गृहस्थोंका नियमित कर्तव्य यह है कि सुबह जिस समय सोकर जगें उस समय उसी जगह बैठे हुए

६ बार णमोकार मंत्रका जाप करें, प्रभुभक्ति करें और उसी समय आत्मकीर्तन पढ़े तो एक विशुद्धता आत्मामें आयगी। आत्मकीर्तनमें आत्माके स्वरूपकी सुध दिलाई गई है। बादमें धर्म क्रियासे निपटकर मंदिरमें आकर प्रभुका ध्यान करें, पूजा करें, दर्शन करें, सामायिक करें। किसी भी प्रकार हो, प्रभुके ध्यानमें, भक्तिमें कुछ समय व्यतीत होना चाहिए। अगर प्रभु के ध्यानमें कुछ समय कोई न व्यतीत करे तो फिर वह करेगा और क्या? वह परिवारमें फसा है, व्यापार रोजिगारमें पड़ा हुआ है तो परका ही तो उसने ध्यान बनाया। परकी ही तो दृष्टि की। तो पुत्र मित्रका ध्यान बनाया, उसमें कोई जीवको लाभ नहीं। आत्माका लाभ है आत्माके ध्यानमें। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं। ऐसे ज्ञानानन्द पिंड सिद्ध भगवानका स्मरण करके, अपने आपके स्वरूपकी सुध भी लेते रहें।

(८८) सिद्धसदृश स्वरूपव्यवस्थित आत्मतत्त्वके ज्ञाता का पाण्डित्य—कैसे हैं सिद्धप्रभु? अपने स्वरूपमें व्यवस्थित हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें रहता है, लेकिन संसारी अज्ञानी प्राणियोंके अपराध बन रहा है। पुद्गलमें कोई अपराध नहीं। वे अपने स्वरूपमें रह रहे हैं। चौकी जड़में रह रही है, जल गई तो राखमें रह गई, जो पर्याय है उसमें चल रही। ऐसे हो चल तो रहे हम भी अपनी पर्यायमें, पर

मान रहे हैं और कुछ, इसलिए विडम्बना जितनी आती है जीवको आती है, अन्य किसी पदार्थमें विडम्बना नहीं हुआ करती। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, अमूर्त और नित्य शुद्ध हैं, उनमें विडम्बनाका प्रश्न ही नहीं। पुद्गल हैं, भौतिक पदार्थ हैं, वे जो हैं सो हैं, उनमें भी कोई विडम्बनाका प्रश्न नहीं। एक जीव ही ऐसा पदार्थ है, जिसमें विडम्बना बन रही है और विडंबनायें भी नाना तरहकी बन रही हैं, सो सबको अनुभव है। किसीका चित्त कहीं है किसीका कहीं। बाहर-बाहर ही दृष्टि डाल रहे हैं, अपने आत्माकी सुध ले ही नहीं रहे हैं। तो जितनी विडम्बनायें हैं वे सब जीवमें लगी हुई हैं, इसलिए ये अज्ञानी प्राणी मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वरूपमें व्यवस्थित नहीं हैं, ये परकी ओर दृष्टि लगाये हैं उस परसे कुछ मिलेगा नहीं और जिससे कुछ मिलना था उसमें दृष्टि नहीं, इसलिए ये बिल्कुल रीते रह जाते हैं। कुछ मिलता ही नहीं है। किन्तु सिद्ध भगवान सदा अपने स्वरूपमें व्यवस्थित रहते हैं। देखो मोहका स्वाद तो अभी तक बहुत लिया, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकके अनुरागका मौज तो बहुत माना, और जिन्होंने मौज माना वे जानते भी होंगे कि मौज क्या है? सिवाय आकुलताके, सिवाय अशान्तिके और कुछ प्राप्त किया हो तो बतलाओ। इतनी बड़ी उम्र हो गई, सब कुछ कर डाला अपनी बुद्धिके माफिक, लेकिन तथ्य कुछ नहीं

प्राप्त किया। आप खूब अनुभव करते होंगे कि मैंने जीवन व्यर्थ बिताया और उन विकल्पोंको करके व्यर्थ ही कष्ट उठाया। मिला कुछ भी नहीं।

(८९) मोहके स्वादसे निकलकर अन्तस्तत्त्वका स्वाद ग्रहण करनेका संदेश— तो मोहका स्वाद तो बहुत लूटा, लेकिन अब कुछ अंतस्तत्त्वका स्वाद लेकर देखो। मेरा आत्मा अपने आपमें किस स्वरूपमें है, उसका ज्ञान करें, उसका स्वाद लें। अब अपनी दया करें। अब तक बहुत श्रम किया, इधर-उधर बहुत भटके, बहुत विकल्प चलाया, अब अपने अंतस्तत्त्व का स्वाद लेना चाहिये। सिद्धप्रभु अपने ही स्वरूपमें व्यवस्थित हैं इसलिए वे अनन्त आनन्दमय हैं और हम अपने स्वरूपमें नहीं रहना चाहते, बाहर-बाहर ही अपनेको भटकाते फिरे, बाह्य पदार्थोंमें प्रीति लगायी, इसलिए दुःखी हैं। मोटे रूपसे यहीं देख लो—आप जिस घरमें पैदा हुए हो उस घरमें पैदा न होते, मान लो किसी अन्य घरमें पैदा होते तो आपको इस घरमें कुछ ममताकी बात रहती क्या? जहाँ जाते वहीं ममता करते, और वहाँ भी न होते, अन्यत्र कहीं होते तो वहाँ ममता करते, और वहाँ भी न होते, अन्यत्र कहीं होते तो वहाँ ममता करते। तो यों समझिये कि ममताके लायक यहाँ कुछ चीज ही नहीं है। यह तो केवल अपना ख्याल ही ख्याल है। मान लिया और बरबाद हो रहे हैं। भला समस्त जीवोंका स्वरूप

अपने स्वरूपके समान समझना चाहिए था सो यह बात तो रही दूर। और भी इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर डाली कि जो ये मेरे घरके लोग हैं ये ही मेरे हैं सब कुछ, और बाकी सब गैर हैं। इतना इष्ट अनिष्ट बुद्धिमें बढ़ गए तो फिर इसका फल कौन भोगेगा? क्या इसको जानने वाले सिद्ध भगवान भोगेंगे? भया वे तो स्वरूपमें व्यवस्थित हैं, अनन्त आनन्दमय हैं। तो क्या आपके सम्पर्कमें रहने वाले अन्य जीव भोगेंगे? अरे जो करेगा सो भोगेगा। तो अपने आत्मापर दया करें। मोह मोहमें ही एकदम न बहे जाओ। सत्य बातको समझें, सम्यग्ज्ञान करें, कुछ परिग्रहकी तृष्णासे विराम लें। अपने स्वरूपमें व्यवस्थित होनेमें ही लाभ है। अपने आत्माको जानें और उसकी सुध अधिक समय लिया करें।

(६०) सिद्धसदृश अष्टगुणोपेत आत्मतत्त्वके ज्ञाताका पाण्डित्य—अपने आपको देखना है सिद्ध प्रभुकी तरह। कैसे हैं सिद्ध? अष्ट गुणोंसे सहित हैं सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरु-लघुत्व, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, वीर्यवान, निराबाध ये सिद्धके गुण बताये गए हैं। तो जरा स्वभावदृष्टि करके अपने अन्दरमें देखिये ये अष्ट गुण मेरेमें भी हैं कि नहीं। देखो—जो मुझमें नहीं है वह सिद्धमें भी नहीं हो सकता और जो सिद्ध प्रभुमें है वह सब मुझमें है। फर्क यह आया है कि हम विषयकषायों के वश हो गए तो हमारी सारी निधि दबी हुई है। वह पर-

तंत्रता मेरी मिटे तो मेरी निधि सिद्ध प्रभुकी तरह प्रकट हो जायगी। तो सिद्ध भगवान अष्ट गुणोंसे युक्त है, उनको शुद्ध सम्यक्त्व है, पहिले भी था जिसके बलपर वह सिद्ध हुए हैं। उनका शुद्ध ज्ञान है। तीन लोक अलोककी समस्त वस्तुओंको जानते हैं, फिर भी जाननकी क्या पद्धति है? अपने स्वरूपमें रहकर, अपने ही ज्ञानमें रहकर यहाँ ही सब कुछ जान लेते हैं। जैसे हाथमें दर्पण लिए हों और पीठ पीछे बालक लोग खेल रहे हों तो दर्पणको ही देखकर उनका बयान करते जाते हैं, इसी तरह सिद्ध भगवान, अरहंत भगवान परमात्मा अपने आपके आत्मस्वरूपको देखते-देखते सारे विश्वको जानते हैं, कहीं भ्रमी लोगोंकी भाँति ज्ञानको बाहर नहीं भटकाना पड़ता। वे अपने ही स्वरूपमें रहकर जान जाते हैं, अरे दर्पण अपनी जगह है, अपनी जगहमें रहते हुए दर्पणमें सारी चीजें प्रतिबिंबित हो जाती हैं, इसी तरह भगवान परमात्मा अपने ही स्वरूपमें रहते हुए सारे विश्वके जाननहार बन जाते हैं। प्रभु निरन्तर अपने आपका दर्शन करते रहते हैं। उनमें कभी छोटे बड़ेपनकी बात नहीं होती। एक सिद्धमें अनेक सिद्ध समा रहे हैं, फिर भी सबकी ज्योति अपने आपकी अपने आपमें विराजमान है, वह सूक्ष्म है, बाधारहित है। ऐसे सिद्ध भगवानकी तरह मेरे आत्माका भी स्वरूप है। इस ही स्वरूपके दर्शनके बलसे हम दु:खजालको मेट सकते हैं।

(११) इस अशरण संसारमें अपने आपको शरण बना लेनेमें पाण्डित्य— देखो—अपने आत्माका जब इस संसारमें कोई नही है और मेरे लिए कोई दूसरा जीव या पदार्थ शरण नहीं है तो अपने आपकी दया कर लो, अपनेको चिताओंसे अलग बना लो। देखो—अपने आत्माकी दया करनेकी बात मनमें होगी तो चिन्तायें नहीं हो सकतीं। चिन्तायें तब ही होती हैं जब शरीरको मानें कि यह मैं हूं और दूसरेके शरीर को माना कि यह दूसरा जीव है, इनसे मेरा परिचय है, मेरी ऐसी पोजीशन है। मुझे ऐसा बड़ा रहना चाहिए। व्यर्थके पर्यायबुद्धिके ख्याल जो बनाये हुए हैं, ऐसी भीतरमें श्रद्धा लिए हुए हैं वे निरन्तर दुःखी रहेंगे। कोई भी स्थिति आ जाय, मान लो, धन बढ़ गया तो उससे क्या लाभ ? अरे धनके बढ़ जानेसे और भी झंझट अधिक बढ़ गए। चिन्तायें और भी अधिक बढ़ गईं। जब गरीब थे या मामूली स्थिति थी तब बड़े सन्तोषसे रहते थे, धर्मपालनमें काफी अधिक समय लगाते थे, अब धनिक हो जानेपर और भी दुःखके प्रसंग बढ़ गए। अगर कोई प्रशंसा करे तो दुःखी, निन्दा करे तो दुःखी। अरे शान्तिका जो धाम है, शान्तिका जो स्रोत है, ऐसे ज्ञानस्वरूप का इसे परिचय नहीं हुआ। मैं कृतार्थ हूँ, मेरेमें कोई अपूर्णता नहीं। मैं ज्ञानस्वरूपसे रचा हुआ हूं, परिपूर्ण हूं, मेरेको कोई कष्ट नहीं। माने जा रहे हैं व्यर्थके कष्ट। लग रहा होगा ऐसा

कि व्यर्थका कैसा कष्ट है ? घर है, लोग हैं उनको इस तरहसे सजाना है, इस तरह शृङ्गार करना है। इतना काम पड़ा है, व्यर्थ कष्ट कैसे कहा जा रहा। अरे जरा चेतो, अपने स्वरूपको देखो—एक भी काम बाहरमें जीवको नहीं पड़ा है। और जो काम पड़ा हो वह स्वयमेव होगा। अपने आपको सावधान बनायें, अपने आपमें अपनी परिणति बनावें, बाहरके काम सुगम होंगे, आपके थोड़ेसे पौरुषसे और अपने आपके भीतरका काम अगर नहीं करते तो बाहरमें आप कितना ही पुरुषार्थ करते जावें, कितने ही कष्ट किए जावें, उससे सिद्धि न हो जायगी। अरे पूर्वमें अगर धर्मकार्य किया है तो थोड़ेसे ही पौरुषसे कार्य सिद्ध हो जायगा और अगर पूर्वमें धर्मसे वंचित रहे और हो गए मानो किसी कारण मनुष्य तो कितने ही कष्ट करें, पर क्या कहींसे कुछ इष्ट मिलेगा ? तो भाई मुझे बाहरसे सुख-शान्ति मिलेगी यह ध्यान पलटना होगा। सुख-शान्तिका घर तो यह स्वयं आत्मा है। तो इसको आनन्द, शान्ति अपने आपसे मिलेगी, दूसरे पदार्थसे न मिलेगी।

(६२) समीचीन दृष्टिमें ही शान्तिकी संभवता—ये सिद्ध भगवान निष्पाप हैं, कोई बाधा नहीं, क्यों नहीं कि खालिस आत्मा हो गए। उस आत्माके साथ न दंद-फंद रहा न शरीर, न कर्म, इस कारण वे आनन्दमग्न हैं। अब बोलो ऐसा ही शुद्ध होना चाहते हो या संसारमें जन्ममरण करते

हुये कीड़ा-मकौड़ा, पशु-पक्षी, मनुष्य ऐसा बनते रहना पसंद है। इन दो बातोंमें आप कुछ भी तो छांट करें। आपको सिद्ध बनना पसंद है या संसारमें जन्ममरण करते रहना पसंद है। यहाँ स्वहितका ध्यान दो। घरका, दूकानका, रोजिगारका, इज्जतका, पोजीशनका ये ध्यान तो मायाजाल हैं। इनसे आपके आत्माका मूलसे कोई कल्याण नहीं है। जरा अपनी भी बात सोचनी चाहिए। ध्यान दीजिए—आपको सिद्ध प्रभु होना उत्तम है या जन्ममरण करते रहना उत्तम है ? एक बार कोई मुखसे तो कह ही डालेगा कि मुझे तो सिद्ध प्रभु होना पसंद है, मगर जब यह कहा जायगा कि हमें सिद्ध होना पसंद है तो जिस विधिसे जीव सिद्ध हुए उस विधिमें आइये। क्या थी उनकी विधि ? परपदार्थोंसे राग मोह छोड़ा। आप कहेंगे कि यह तो बड़ी कठिन बात है। यह तो मुनिपदमें ही बन सकता है और कोई मुनि बनकर न बनाये, उद्दण्डता करे तो यह उसके पापकर्मकी बात है, लेकिन साधना जो बनेगी ऐसी उत्कृष्ट वह तो मुनिपदमें बनेगी। अच्छा मुनिपद कठिन है अभी नहीं बनता। तो छोड़ो, मुनि होनेकी बात नहीं कह रहे, गृहस्थीमें रहें, मगर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपर तो गृहस्थका अधिकार हो सकता है। गुप्ति समितिपर न हो, मगर जिसपर हमारा अधिकार पूरा हो सकता है उससे क्यों वंचित रहें ? आवो, सम्यक्त्वमें लगो, सम्यग्ज्ञानमें बढ़ो।

(९३) शान्तिका वास्तविक आधार रत्नत्रय—देखो आत्माका शृङ्गार, आत्माकी शोभा और आत्माको शान्तिमें ले जाना, यह सब इस रत्नत्रयके साथ बात है। पूजामें भी बढ़ें, विनतीमें भी बढ़ें, किन्तु उसकी ओर जरा भी चिन्तन और ध्यान नही बन रहा है। तो अब अपने जीवनका लक्ष्य मोड़ लो, अगर सुखी होना चाहते हो तो। उस ही रागद्वेष मोहमें, उस ही प्रपंच फंदमें कुछ न मिलेगा। जरा निर्भार बनो। सोचो कि घरमें जितने जीव हैं सबके अपना-अपना कर्मोदय है। जैसा उनका उदय है वैसा ही बनता है। उसके विरुद्ध हम कुछ नहीं कर सकते, सभी जीव अपने-अपने कर्मोदयसे ही सुखी दुःखी होते हैं। यह तो आपको भ्रम है कि मैं अमुकको सुखी करता हूं या अमुकको दुःखी करता हूं। अरे आप तो सिवाय विकल्प करनेके और कुछ नहीं किया करते। तो उन विकल्पोंको जरा कम करना है। जिसने सम्यग्ज्ञानके बलसे अपने आत्माका परिचय प्राप्त किया है उसको जगतमें कहीं अशान्ति नहीं है। अशान्तिका काम क्या ? लड़का उल्टा चलता है तो चलने दो, पर जीव हैं जगतमें अनेक ऐसे, क्या उनसे उपेक्षा नहीं की जा सकती ? हमारा काम बिगड़ गया, हमारा लाखोंका टोटा पड़ गया तो क्या है ? बाह्य पदार्थ थे, आये तो आये गए तो गए। उनसे मेरा क्या संबंध ? मेरे आत्मामें तो एक अणुमात्रका प्रवेश नहीं है। केवल विकल्प तो पकड़

रक्खा था कि यह मेरा है, है कुछ भी नहीं।

(६४) कल्पनामें विडम्बना—रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कथा आयी है—श्मश्रुनवनीतकी। यह संस्कृतका शब्द है, श्मश्रु कहते हैं मूछको और नवनीत कहते हैं मक्खनको। इसे हिन्दोमें आप मूछमक्खन कह सकते हैं। उसने किसी जैन के घर मट्ठा पिया और उसने अपने हाथको मूछपर फेरा तो कुछ मक्खन हाथमें लग गया। उसके मनमें आया कि यदि मैं रोज १०-२० घरमें मट्ठा पी लूं और यों ही पोंछकर इकट्ठा कर लिया करूं तो कुछ दिनोंमें मैं धनिक हो सकता हूं। यह सोचकर उसने यही काम शुरू किया। प्रतिदिन १०-२० घरोंमें मट्ठा पीने जाना और मूछपर हाथ फेरकर उसे कटोरीमें इकट्ठा कर लेना, फिर उसका घी बना लेना यही बात वह किया करता था। अब इस तरह करते-करते तीन चार सालमें दो-तीन किलो घी जोड़ लिया। एक दिन वह अपनी झोंपड़ीमें जाड़ेके दिनोंमें बैठा हुआ अग्नि जलाकर ताप रहा था। ऊपर छींकेमें घी टंगा हुआ था। तापता तापता वहीं लेट गया और इस प्रकारका विचार करने लगा कि मैं कलके दिन अमुक बाजारमें जाऊँगा वहाँ इस घीको बेचूंगा, करीब १५) में बिक जायेगा। उनसे मैं एक बकरी खरीदूंगा, बकरी बच्चे देगी, फिर उन सबको बेचकर गाय खरीदूंगा, फिर भैंस खरीदूंगा, फिर उससे बढ़-बढ़कर बैल खरीद लूंगा,

फिर खेती खरीद लूँगा, मकान बनवा लूँगा। फिर तो मेरी शादी भी हो जायगी, बच्चे होंगे। कोई बच्चा जब मुझे बुलाने आयगा कि चलो पिता जी, माँने रोटी खानेको बुलाया है तो मैं कहूंगा कि मैं अभी नहीं जाता, दुबारा बुलाने लगा आयगा तो फिर कह दूँगा कि अभी मैं नहीं जाता। तिबारा फिर बुलाने आयगा तो यों (लात फटकारकर) लात मारूँगा— अबे मैं अभी नहीं जाता, लो उसकी लात ऊपर टँगे घीके डबलेमें लगी। घी खिन गया, आगमें पड़ जानेसे आग बढ़ी, झौंपड़ी जलने लगी। वह पुरुष झौंपड़ीसे बाहर जाकर चिल्लाने लगा—अरे भाई दौड़ो, मेरा मकान जल गया, मेरी स्त्री जली, मेरे बच्चे जले, मेरे जानवर जले। लोगोंने जब उसको यह सब कहते सुना तो बड़े आश्चर्यमें पड़ गए सोचा कि अभी यह कल तक भीख माँगता था और आज यह सब क्या कह रहा है? लोग उसे समझाने आये। लोगोंके द्वारा पूछा जानेपर उसने अपनी सारी बात बतायी। तो किसी सेठने कहा—अरे तू दुःखी क्यों होता? कुछ भी तो न था, तू केवल उन्हें कल्पनासे अपना मान ही तो रहा था। उनके पीछे दुःखी होनेसे तुझे क्या लाभ? तो कोई समझदार पुरुष सेठ जी से कहने लगा कि सेठ जी यही हाल आपका भी तो है। आप भी परपदार्थोंको कल्पनासे अपना मान मानकर व्यर्थ ही उनके पीछे दुःखी रहा करते हैं। अरे वे आपके कुछ

भी तो नहीं, फिर भी आप उनके पीछे दु:खी रहा करते हैं। सेठ निरुत्तर रह गया तो वस्तुतः यहाँ किसीका है क्या ? सब कल्पनायें करके परपदार्थोंको अपना मान रहे हैं और उनके पीछे दु:खी हो रहे हैं। अपनी एक सच्ची दृष्टि बना लीजिए। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र न तो रोमकी फोटो लेता, न चामकी, न खूनकी और न मांस मज्जा आदिकी। वह तो हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही हम आपकी इतनी सूक्ष्म दृष्टि बननी चाहिए कि इन दिखने वाले मायामयी पर पदार्थोंमें न अटककर अपने भीतरमें प्रकाशमान जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व है उसके दर्शन किया करें। यह समयसार परमदेव जिनकी दृष्टिमें आ गया उनका कल्याण हो गया और जो राग-द्वेष मोह आदिमें लगे हुए हैं उनका तो जन्म मरण ही चल रहा है। वे कीड़ा मकोड़ा ही बनते हैं, बार-बार मनुष्य ही तो नहीं बन सकते। जिन मनुष्योंने करनी अच्छी नहीं की उनका तो साफ उत्तर है कि जैसे जगतके अन्य जीव दिख रहे हैं वैसे ही जीव उन्हें बनना पड़ेगा। तो भाई सारी विडम्बना की सारी बात एक तरफ, न कुछ तुच्छ। और अपने आपके आत्माका ज्ञानप्रकाश, दया, करुणा, चिन्ता ये सर्वोपरि चीजें हैं। इससे अब मोहकी आदत छोड़नी होगी और अपने आत्मा में लो लगानेकी आदत बनानी होगी तब ही हमारा उद्धार है, अन्यथा मनुष्य जीवन पाना हमारा निष्फल है।

(६५) सिद्धसदृश आत्मतत्त्वके परिचयका प्रयोजन अन्तःप्रकाशविकास— भैया! अपने आत्माको सोचें, सिद्धप्रभु की तरह किसलिए विचारें ? एक महान प्रकाश पानेके लिए। जो शुद्ध है सो मेरे ज्ञानमें आये बस एक यह बात है और कोई प्रयोजन नहीं। हे प्रभो! आपके समान ही मुझे भी अनन्त आनन्द मिले। सारे विश्वका ज्ञान तो होगा, लेकिन हे प्रभो! मुझे इसका भी लालच नहीं कि मुझे केवलज्ञान हो जाय। मैं तो बस यही चाहता हूं कि मेरे आत्माका जो सहज शुद्ध सत्य स्वरूप है वह मेरे ज्ञानमें बना रहे। जो होना होगा होगा। मैं तो वर्तमानमें यही चाहता हूं कि मेरा जो सत्य शुद्ध निरपेक्ष अपने ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें भाव हो, स्वरूप हो वह मेरी दृष्टिमें रहे। इसीको कहते हैं परमात्मतत्त्वका आलम्बन। इसीका नाम है धर्मपालन। बताओ अभी तक यह धर्मपालन किया कि नहीं ? यदि धर्मलक्ष्य हो तो कर्मबंधके खिरानेमें ये देवपूजा, स्वाध्याय आदिक बड़ा सहयोग देंगे। जैसे कहते हैं कि अनेक चाँद लग जायेंगे। पर भीतरमें अपनी कुछ निधि न हो, अपने स्वरूपकी दृष्टि न हो तो हम बाहरी धर्मक्रियायें करके क्या पा सकते हैं ? इससे भाई अपने आपके स्वरूपके परिचयमें, ज्ञानमें, सम्यग्ज्ञानमें, स्वाध्यायमें अपना जीवन लगायें, इसके लिए चाहे तन, मन, धन, वचन सर्व कुछ अर्पण करना पड़े और एक सम्यक्त्व अगर मेरेमें प्रकट हो

गया तो समझ लीजिए कि मैंने सब कुछ पा लिया। ऐसे सिद्ध प्रभुकी तरह इस आत्माको अपना महान प्रकाश पानेके लिए जो जानता है, जो कि सहज चैतन्यस्वरूप है, सहज प्रकाश, शुद्ध आनन्द, अपने आप ही होने वाला आनन्द, तत्स्वरूप अपने आत्माको जो जानता है वास्तवमें वह पंडित है, वही चतुर कहलाता है।

पाषाणेषु यथा हेम दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलम्, देहमध्ये तथा शिवः ॥२३॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः ॥२४॥

(६६) अहिंसापरिणामसे ही शान्तिकी निष्पत्ति— संसारमें प्रत्येक जीव सुख-शान्ति चाहता है। पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सभी प्राणी मनमें यही भावना रखते हैं कि मुझे सुख शान्ति मिले और प्रयत्न भी वे ऐसा ही करते हैं कि जिसमें उन्हें सुख शान्तिकी आशा हो, लेकिन अभी तक सुख शान्ति पा न सके। सर्वत्र दुःख ही दुःख उठाया। सुख शान्तिका उपाय क्या है यह बात बाहरमें तो देख लिया, लेकिन विवेक पूर्वक विचार नहीं किया। एक मोटी बात है कि जैसे तिलमें तैल होता है तो पेलनेसे तैल निकल सकता है और बालूमें तैल नहीं है तो उसे कितना ही पेला जाय, पर उससे तैल नहीं निकल सकता। ऐसा सोचना चाहिए कि मेरे आत्मामें

सुख शान्ति आनन्द है, स्वभाव है, मेरेमें माद्दा है, आदत है, तब सुख शान्ति मुझमें आ सकती है, यदि मेरेमें शान्ति आनंद का स्वभाव न हो तो कितने ही उपाय कर डालें, पर कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए भरोसा रखें अपने आपपर कि मैं अच्छा रहूंगा तो शान्त रहूंगा, मैं ही गड़बड़ी करूँ तो अशान्त बन जाऊँगा। यह ख्याल छोड़ दें कि मेरेको इसने दुःखी किया। दुनियाके अन्य जीवोंपर विरोधभाव न रखें। यह विरोधभाव इस जीवका एक बड़ा अंधकार है और यह जीवके ऊपर आपत्ति हो है। इस जीवका भला कर सकने वाला है कोई तो एक अहिंसाभाव है। अहिंसा सब जीवोंकी रक्षा करती है। सब जीवोंको हितमें पहुंचा सकती है तो अहिंसा का परिणाम ही पहुंचा सकता है हितमें।

(६७) **समस्त धर्मों व महर्षि संतोंके जीवनका आधार अहिंसा**—जितने भी धर्म हैं अथवा जितने भी व्रत, तप आदिक किए जाते हैं, सबका आधार अहिंसा है। सभी मजहब वालों के जो मुख्य नेता हुए हैं, ऋषि संत हुए हैं उन सबकी प्रकृति अहिंसाकी थी। आप सबके चरित्र पढ़ लो, सबमें अहिंसाकी मुख्य बात मिलेगी। चाहे कोई तीर्थंकर हो, चाहे बुद्ध आदिक हों, ईसा हों, किसीका भी चरित्र आप पढ़ेंगे तो वहाँ उन उनके योग्य अहिंसाभाव मिलेगा। तो जिन नेताओंने दुनियाको धर्मकी बात बतायी उनका चरित्र अहिंसामय था और उनके

जो वचन निकले वे भी अहिंसाके ही पोषक निकले, क्योंकि जीवोंका हित कर सकने वाला है कुछ, तो अहिंसा ही है। जैसे मकानकी नींव होती है तो उसपर कितने ही मंजिल उठाते जावो—उठ जाते हैं, इसी प्रकार अगर प्राणियोंमें दया है, अहिंसा है तो वे जितने व्रत, तप धर्म करेंगे वे सब फलित हो जायेंगे, लेकिन जिसका दिल अहिंसारूप नहीं है, क्रूर है, दूसरों के सतानेका भाव रखता है, दूसरोंकी निन्दा चुगलीका भाव रखता है, किसीकी चीज चुराकर रहता है या परस्त्रीपर बुरी निगाह रखता है या परिग्रहकी तृष्णामें लगा है, जिस किसी भी प्रकार वह क्रूर बन रहा है तो वह पुरुष धर्मकी बातमें चाहे कितना ही बढ़े, मगर धर्म नहीं लगता।

(६८) **धर्माधार अहिंसा**—अहिंसा धर्मका आधार है और अहिंसा भी तब बन सकती जब अपने आत्माका सही बोध हो कि मैं क्या हूं। मैं क्या हूं? मैं एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। जितने भी जीव हैं, चाहे वे किसी देशमें उत्पन्न हुए हों, किसी समय हुए हों, किसी मजहबमें हुए हों, आखिर जीव तो जीव ही हैं और जब जीव हैं तो जीवके नातेसे सबका स्वरूप एक समान है। जीव जो ज्ञानज्योति रूप हो, जिसका ज्ञान भला हो वह जीव है। जब सब लोग अपने मनमें सोचते रहते हैं, कुछ कल्पना करते हैं। जानकारी बनाते हैं तो तब ही बनाते हैं जब उनका स्वरूप ज्ञानका है। पुत्र, पुत्री आदिक

भी तो कुछ चिन्तन करते हैं। चिन्तन जिनमें हो रहा है वे ही जीव हैं। तो जीवका स्वरूप ज्ञान है, और जो इस ज्ञानकी आराधना करता है, मैं ज्ञानस्वरूप हूं, सब जीवोंके समान हूं, इस तरह जो अपने ज्ञानस्वरूपको आराधना करता है उसकी उन्नति होती रहती है और जो अज्ञानको आराधना करता है कि देह मैं हूं, कुटुम्ब मैं हूं, ऐसा पुरुष जन्म मरण करता रहता है। तो एक अपने आपकी दया उत्पन्न हुई हो कि मेरा भला हो तो अपने आपका पहिचानना पहिला कर्तव्य होता है। किसका मुझे भला करना है ? यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं, इसका भला करना है। इसका स्वभाव कैसा है ? पूर्ण शान्त है, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायोंसे रहित है, कोई उसमें कष्ट नहीं है। ऐसा आत्माका स्वभाव है। तो जब स्वभावमें ही अहिंसा भरी हुई है तो ऐसी वृत्ति करें तो नियमसे कल्याण होगा। हिंसाके मार्गमें चलकर कोई कल्याण नहीं पा सकता। बतलाओ सब जीवोंको जब अपने प्राण प्यारे हैं तो किसी जीवके प्राण दुखानेका किसीको अधिकार क्या ?

(६६) अहिंसा सम्बन्धी एक उदाहरण—एक घटना है कि एक बार गौतम बुद्ध किसी जंगलमें जा रहे थे। उन्हें एक जगह झाड़ीमें पड़ा हुआ घायल हंस पक्षी दीखा। वह करुणासे भर गए। उसे गोदमें उठा लिया। उसके हृदयमें बिंधे हुए तीरको निकाला, नदीके तटपर ले जाकर उसका

घाव धोया, पानी पिलाया, उसके प्राण बचाये। इतनेमें उसका चचेरा भाई देवदत्त (जिसने उस हंस पक्षीका शिकार किया था) आया और बोला—यह हंस मेरा है, मुझे दे दो।··· आपका कैसे? यह तो मेरा है, मैंने इसे बचाया है। मैं इसे न दूंगा।···अरे मैंने इसे तीरसे मेरा, इसपर मेरा अधिकार है, मुझे दे दो।····मैं नहीं दूंगा।···· चलो इसका फैसला चाचा जी (राजा शुद्धोधन) के पास होगा। गये दोनों। गौतम कहे कि मैंने इसे बचाया है, अतः यह हंस मेरा है, देवदत्त कहे कि मैंने इसे तीरसे मारा है, अतः इसपर अधिकार मेरा है। तो राजा शुद्धोधनने यही निर्णय दिया कि मारने वालेसे बचाने वालेका अधिकार ज्यादा होता है, अतः यह हंस गौतमका है। तो भाई मारने वालेका अधिकार जीवपर नहीं है, हाँ बचाने वालेका अधिकार इस जीवपर एक दृष्टिसे कहा जा सकता है। तो हमारा भाव ऐसा निर्मल हो कि जिससे हिंसाका स्थान न हो। तो समझिये कि हमने अपने जीवनमें सुख शान्तिका उपाय बनाया। यह बात सभी मनुष्योंके लिए लगी हुई है। यहाँ यह भेद नहीं है कि अहिंसा अमुकका धर्म है, अमुक लोगों का धर्म नहीं है। जब जीव है, ज्ञानस्वरूप है और मुक्तिका रास्ता भी एक है, संसारमें भटकनेका भी रास्ता एक है। सब बात जब एक है तो समझिये कि धर्म भी सबका एक है। वह धर्म है अहिंसा। अपना परिणाम 'निर्मल बनाना, किसी जीव

के प्रति कलुषित भाव न रखना।

(१००) संकल्पी हिंसामें महान् अपराध—हिंसा चार तरहकी बतायी गई है—(१) संकल्पी, (२) विरोधी, (३) उद्यमी, (४) आरम्भी। संकल्पी हिंसाका अर्थ है—किसी जीव को इरादा करके मारना। जैसे मुर्गा, मुर्गी, सूकर, भेड़, बकरी, सर्प, बिच्छू आदि जीव मारे जाते हैं तो वह सब संकल्पी हिंसा है। विरोधी हिंसा यह है कि कोई शत्रु हमारा धन माल लूटने के लिए, प्राण लेनेके लिए या कुटुम्बकी इज्जत नाश करनेके लिए आक्रमण करता है तो उसका जो मुकाबला किया जाता है और उस मुकाबलेमें ही वह शत्रु मर जाय तो उसे कहेंगे विरोधी हिंसा, क्योंकि इस गृहस्थको उस शत्रुको मारनेका इरादा न था, किन्तु अपने बचानेका ही इरादा था, लेकिन हो जाय वहाँ किसीको हिंसा तो वह उसकी संकल्पी हिंसा नहीं है। दूसरी हिंसा कहलाती है उद्यमी। आप लोग व्यापार करते हैं जिस किसी भी किस्मका, वहाँ प्रकट हिंसाका रूप तो नहीं है, फिर भी व्यवहार करनेमें बहुत सावधानी रखते कि किसी जीवकी हिंसा नहीं हो तब भी उस सावधानी रखते हुए, निर्दोष व्यापार करते हुए भी जो कदाचित् हिंसा होती हो वह उद्यमी हिंसा है। और आरम्भी हिंसा है रसोई बनानेमें, झाड़ू बुहारी करनेमें प्रमाद न रखें, सावधानी रखें फिर भी हिंसा हो जाय तो वह आरम्भी हिंसा है। चार प्रकारकी

हिंसाओंमें साधु तो चारों प्रकारकी हिंसाका त्यागी बनता है, लेकिन गृहस्थ केवल एक संकल्पी हिंसाका त्यागी बन सकता है। तीन हिंसायें वह नहीं त्याग सकता। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसामें कायरता है, पर उनका यह कथन मिथ्या है। अरे अहिंसा पालनेके लिए तो बड़ा आत्मबल चाहिए, वह तो शूरता है न कि कायरता। राजा लोग जब कभी शत्रुका आक्रमण होता है तो बड़ी शूरतासे उसका मुकाबला करते हैं, किन्तु मूल भाव द्वेषका नहीं होता। तब ही तो बताया है कि गृहस्थ तीन हिंसाओंके त्यागी नहीं बन सकते। तो अहिंसाका आधार हुआ यह भाव।

(१०१) भावानुसार हिंसा अहिंसाका निर्णय—भावों के अनुसार हिंसा अहिंसाका निर्णय है। देखो—डाकू, ड्राइवर और डाक्टर इन तीनोंमें से हिंसा तो होती ही रहती है। डाक्टर कितने ही लोगोंके आपरेशन करता है, कितने ही लोगों की मृत्यु हो जाती है, मगर उसे कोई हिंसक तो नहीं कहता। वह सबके बचानेका भाव रखता है, इसीलिए औषधि करता है, पर मरणकाल जब आ गया तो उसे कौन बचा सके ? तो डाक्टरको हिंसाका दोष नहीं लगता, क्योंकि उसके भावोंमें बचानेकी बात है। दूसरा है ड्राइवर। वह मोटर ट्रक आदि चलाता है। उसका भाव किसीके मारनेका तो नहीं होता, पर प्रमादवश स्वच्छन्तावश यदि किसी जीवको मार दे तो उसमें

वह हिंसादोषका भागी तो है। सरकार उसे सजा देती तो है। किन्तु थोड़ी सजा है, मृत्युदण्ड नहीं। वहाँ उसके मारनेका भाव न होकर भी प्रमादका, स्वच्छन्दताका दोष बन जानेसे वह हिंसक माना जाता है। अब तीसरे हिंसक हैं डाकू लोग उनका तो धन लूटने व जान लेनेका भाव ही रहता है जिससे वे तो घोर हिंसक हैं ही। अब देखिये—सजा डाकुओंको मिलती है मृत्युदण्ड जैसी कठिन सजा उनके इरादा करके मारनेके कारण। ड्राइवरको भी सजा मिलती उसके प्रमादके कारण और डाक्टरको कोई सजा नहीं मिलती, उसका मारनेका भाव न होनेके कारण। बल्कि उसका तो उस जीवको रक्षाका, दयाका भाव रहता है। इससे डाक्टरको किसीने हत्यारा नहीं कहा। तो यहाँ डाकू, ड्राइवर और डाक्टर, इन तीनोंके भावोंपर दृष्टि दें। डाक्टरका मारनेका भाव न था, ड्राइवरका भी मारनेका भाव न था, लेकिन प्रमाद था, स्वच्छन्दता थी, डाकूका तो इरादा करके मारनेका भाव था अतः वह महापरावी माना जाता। डाक्टरका भाव शुद्ध है, इस कारण डाक्टरको हिंसाका दोष नहीं लगता, ड्राइवरके प्रमादके कारण कुछ दोष लगता, इस कारण वह भी उचित दंड पाता और डाकू तो इरादा करके दूसरोंको मारता है इस कारण वह महा हिंसा पापका भागी होता है। तो भावोंके अनुसारही इस जीवकी स्थिति बन जाया करती है।

(१०२) **सर्व जीवोंके प्रति सुखकी भावनाका महत्त्व**— अपना भाव यह होना चाहिए कि सब जीव सुखी हों। हम इस मनुष्यजन्ममें आये हैं धर्मका उपाय बनानेके लिए। भगवानकी भक्ति करनेके लिए और आत्माका कल्याण करनेके लिए। हमारे द्वारा किसी प्राणीका दिल न दुखे, किसीकी हिंसा न हो, मांस मदिराका तो सर्वथा त्याग होना चाहिए और दूसरे लोग भी आपके इस त्यागसे लाभ उठायेंगे। तो अहिंसामय अपना परिणाम हो तो नियमसे कल्याण होगा। और हिंसामय परिणाम है, बुरा ख्याल है, दूसरोंको हम विरोधी समझें, दूसरोंको दु:ख दें तो उसमें नियमसे अपने आपकी बरबादी है। जैसे जो दूसरोंको आग फेंककर मारता है उस मारने वालेका हाथ तो नियमसे जलेगा, पर जिसे मारा है वह जले अथवा न भी जले, ठीक ऐसे ही जो अपने खोटे भाव करता है। दूसरोंको सतानेका भाव करता है तो वह भाव करने वाला तो दु:खी हो ही जायगा, जिसे दु:खी करनेका भाव बनाया वह दु:खी हो अथवा न भी हो। एक अहिंसामय हमारी परिणति हो, सच्चाईको लिए हुए हमारा व्यवहार हो।

(१०३) **वर्तमान कालमें प्राप्त सभी समागम पूर्वकृत कर्मोंका फल**— देखिये—जितना जो कुछ यहाँ मिलता है वह सब पूर्वकृत कर्मका प्रसाद है, कोई सोचे कि मैं तो अपनी बुद्धिसे कमा लेता हूं तो यह उसका ख्याल गलत है, भ्रमपूर्ण

है । यदि आपके पुण्यका उदय है तो आपका थोड़ासा भी श्रम बड़ी आय कर देगा और यदि पूर्वकृत पुण्य नहीं है, पुण्यकर्म का उदय नहीं है तो कितना ही बाहरमें श्रम कर लिया जाय पर उससे आय नहीं हो सकती । तो कर्मपर लौकिक लाभमें विश्वास बनायें और मुक्तिके लिए अपने आत्माका विश्वास बनायें । जहाँ शान्तिकी समस्या है कि मेरेको सुख-शान्ति कैसे हो तो वहां आत्मविश्वास करना है और जहाँ लौकिक धन-वैभवकी समस्या है वहाँ कर्मपर बात हो । जब शान्त होनेकी भावना है तो एक तो यह भावना बनायें कि जैसे मैं शान्त रहना चाहता हूं, मैं सुखी रहना चाहता हूं, इसी तरह सब जीव सुखी हों, शान्त हों, परिवारमें देख लो, गोष्ठीमें देख लो—जो व्यक्ति दूसरोंका भला सोचता है वह सब जगह आदरणीय बन जाता है, मित्रमण्डलीमें देख लो—जो सबके सुखकी भावना रखता है वह सब मित्रों द्वारा आदरणीय बन जाता है । तो जो समस्त जीवोंके सुखकी भावना रखता हो वह ऐसा आदरणीय बनता है कि देव बनता है, धर्मका पैगम्बर बनता है, वह धर्मका प्रधान नेता (नायक) बन जाता है । तो हमें चाहिए कि हम सब जीवोंके सुखी रहनेकी भावना करें ।

(१०४) कषायमें सुखकी असंभवता—कोई घटना घट गई हो, कुछ क्रोध आ गया हो तो अपने आपको सम्हाल लो, क्रोधमें मत बहो और उस क्रोधमें आकर मनमें समायो

हुई बात मत करो। यह क्रोध क्षणिक है, थोड़ी देरमें मिट जायगा, मगर उस क्रोधमें जो हम चेष्टा कर बैठेंगे या गाली-गलौज कर बैठेंगे तो उसकी विडम्बना बनेगी और आगे आप शान्त न हो सकेंगे। तो अपने मनको संयत बनानेका इस जीवनमें प्रयत्न करें। कोई दूसरेको अपना सुख देने न आयगा। कोई दूसरा दुःखसे नहीं बचा सकता। यदि आपका मन पवित्र है, आपका मन कंट्रोलमें है तो आप सुख पा लेंगे और अपने आपका मन संयत नहीं है, जरा-जरासी बातमें क्रोध आ जाता है तो आपको जरा-जरासी बातमें दुःखी होना पड़ेगा। दूसरे जीवोंका आदर तो करें नहीं, उन्हें तुच्छ मानें, अपनेको बड़ा मानें तो बताओ—दूसरोंकी ओरसे भी आपको आदर मिलनेकी क्या आशा की जाय? यदि आप दूसरोंका आदर करें तो दूसरे भी आपका आदर करें। तो मान कषायमें न बहना, दूसरोंके लिए विनयशील रहना। छल-कपट करके कोई जीव सुखी न रह सकेगा। यहाँकी बात वहाँ भिड़ाना, वहाँकी यहाँ भिड़ाना, मनमें और है, वचन कुछ कहता है, शरीरकी चेष्टा कुछ करता है तो ऐसे मायाजालमें अपने हृदयको रखने वाले लोग सुखी न रह सकेंगे, वे भीतर दुःखी रहते हैं। यदि सुखी होना है तो अपने भावोंको पवित्र बनाना होगा, कषायरहित बनाना होगा। सब जीवोंके सुखकी भावना बनानी होगी। इसी तरह लोभकषाय है कृपणता होना, धन होते हुए भी

कृपण रहना, परोपकारके लिए दिल न बनना, यह भाव भी एक ऐसा दुर्भाव है कि इसमें वह पुरुष व्यथित रहता है, दुःखी रहता है उसे मार्ग नहीं सूझता कि कैसे शान्ति परिणाम आ जाय ? एक कविने बताया है कि सबसे बड़ा दानी कौन है ? ···कृपण। सुनकर अचरज करोगे कि कंजूसको सबसे बड़ा दानी कैसे कह दिया ? एक विद्वान् कविने अपने अलंकारमें कहा है कि कृपण पुरुष इतना बड़ा दानी है कि यह जीवनमें कुछ खा पहिन भी नहीं सकता, दानमें, परोपकारमें भी नहीं खर्च करता, सिर्फ जोड़-जोड़कर रखता जाता है और अन्तमें साराका सारा धन दूसरोंके लिए छोड़ जाता है। यह एक हास्यकविने कंजूस पुरुषकी हँसी की है, इसमें कोई कंजूस पुरुष की प्रशंसा न समझें, बल्कि निन्दा समझें। तो जो लोग तृष्णा में रहते हैं, कृपणताकी प्रकृति बनाते हैं वे सुखी शान्त नहीं रह सकते।

(१०५) सुखी होनेके उद्यममें सद्भावना व षड्वैरि-विजयका दिग्दर्शन—सुखी रहनेके लिए यहाँ कुछ बातें समझ लीजिये—एक तो सब जीवोंको सुखी रखनेकी भावना रखना भला बतलाओ—भावना ही तो है। भावनासे ही संसार बनता है और भावनासे ही मुक्ति बनती है, भावनासे ही हम सुखी होते हैं और भावनासे ही हम दुःखी होते हैं। बाहर कोई संग्रह-विग्रहकी बात नहीं करना है, किंतु अपने भावोंको निर्मल

बनाना है। संसारमें रहकर करना क्या है ? किसीकी कोई चीज सदा साथ रही क्या ? धन किसलिए जोड़कर रख जाना ? यश प्रतिष्ठा वगैरहका क्यों अधिक लोभ करना ? क्या कुछ इस जिन्दगीमें यह निभाव कर सकेगा ? क्या मरने पर कोई साथ दे सकेगा ? सब असार है, सब बेकार है। अपना मन पवित्र हो, भावनायें पवित्र रहें तो अगले जन्ममें भी सुख शान्तिसे रह सकेंगे और इस जन्ममें भी सुख शान्ति से रह सकेंगे। तो अपने भाव निर्मल बनें, बस यही धर्म है। और भावोंको निर्मलताके लिए ६ बातोंका त्याग बताया है। वे ६ बातें क्या हैं ? वे ६ इस आत्माके शत्रु हैं—(१) मोह, (२) काम, (३) क्रोध, (४) मान, (५) माया और (६) लोभ। अपना चिन्तन ऐसा बनायें कि जब मेरा देह भी साथ दे सकने वाला नहीं है तो फिर बाहरकी कोई चीज मेरी अणु मात्र भी कैसे हो सकती है ? कुछ भी तो मेरा नहीं। फिर उसमें कोई ऐसा सोचे कि ये परपदार्थ स्त्री-पुत्रादिक तो मेरे हैं तो इसे कहेंगे आध्यात्मिक चोरी। चोरी किसे कहते हैं ? जो दूसरेकी चीजको अपनी बताये उसका नाम चोरी है। किसीके घरमें चीज रखी हो, उसे कोई अपने घर उठा लावे और उसे अपनी माने तो यह चोरी ही तो है। तो परकी चीजको अपनी बनाना इसका नाम चोरी है। यदि हम घरको, कुटुम्ब को, शरीरको या अन्य किसी भी परपदार्थको अपना मानते हैं

तो यह चोरी है । इसे कहते हैं परमार्थतः चोरी । तो मोह इस जीवका एक बहुत बड़ा दुश्मन है । इसपर विजय करें । अगर मोह नहीं हटा सकते तो फिर दुःखी किसे होना पड़ेगा ? खुदको ही दुःखी होना पड़ेगा । अपने पूर्वजोंको देखो—उनमें से कोई अभी तक रह सका ? बस यही हालत अपनी है । अपना भी कुछ रह सकेगा क्या ? तो व्यर्थका मोह है । जन्म मरण करना है अकेलेको ही । सर्वसंकटोंसे छूटना है अकेलेको ही । सदा रहना है अपनेको अकेला, लेकिन भ्रम बना लिया, परको अपना लिया तो उसका फल इतना कठोर मिलेगा कि कीड़ा-मकौड़ा जैसे जीव जन्तुओंमें जन्म लेना पड़ेगा । मोहका क्या काम ? अगर अपनेको सुखी रखना चाहते हो तो मोहको त्याग दो । कामविकार—दूसरेके शरीरको देखकर यह बड़ा सुहावना है और उसमें कामका भाव रखना, विषयसेवनका भाव रखना, यह काम कहलाता है । कामभावके आते ही आत्मबल नष्ट हो जाता है । बुद्धि हर जाती है । यह कामविकार इस जीवका शत्रु है । क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें हैं । ये प्रकट दुश्मनी निभा रही हैं । तो जिन जीवोंको सुखी होना है उनको इन ६ शत्रुओंसे बचना होगा और सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना करनी होगी ।

(१०६) शुद्धभावना व विभावविजयका आधार आत्मबोध—शुद्ध भावना व विभावविजयकी बात तब ही बनेगी

जब अपने आपका बोध हो कि मैं वास्तवमें क्या हूं ? ज्ञान-स्वरूप । जगतके ये जीव क्या हैं ? ज्ञानस्वरूप । भगवान क्या है ? ज्ञानस्वरूप । भगवान कहांसे हुए ? यह ही आत्मा जब पवित्र हो गया, रागद्वेषसे रहित हो गया, अज्ञान अब इसके न रहा । कर्म सब नष्ट हो गए । वह ही आत्मा परमात्मा हो गया, परम मायने उत्कृष्ट आत्मा बन गया । जैसे सोना कहांसे बनता है ? खानसे । खान क्या चीज है ? मिट्टी पत्थर । तो उस मिट्टी पत्थरमें सोना आपको आँखोंसे दिखता है क्या ? न दिखनेसे मिट्टी पत्थर लग रहा, लेकिन बुद्धिपूर्वक जब उसकी भट्टियाँ बनाते हैं और उसमें भी सार, फिर सारमें सार इस तरह निकलता जाता है तो मानो १०-२० मन उस मिट्टी पत्थरमें कोई मासा दो मासा सोना निकल पाता है । तो वह सोना जो प्रकट हुआ सो उस मिट्टी पत्थरमें था तब ही तो उसमें से आ सका, इसी तरह जो परमात्मा है, परमस्वरूप है, भगवत्स्वरूप है वह हमारे आत्मामें है तब ही तो उपाय करते हैं और भगवान बन जाते हैं, एक महान आत्मा हो सकते हैं । उसकी आराधना करनी है ज्ञानरूपमें । मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानज्ञानस्वरूप हूँ मैं, और ऐसे सब जीव हैं । सब जीव सुख चाहते हैं । मेरेको अभी लगे तो बड़े दुःख हैं । दूसरा कोई अगर सूईं चुभो दे या चाकू दिखाय तो क्या उसे दुःख नहीं होता ? किसी दूसरे जीवको सतानेसे लाभ क्या है ? अरे

भोजन करना, पेट भरना, यह ही तो एक जरूरी काम है। तो रोटी दाल साग वगैरहसे भरा जा सकता है। दूसरे जीवों के प्राण नष्ट हों और उस तरह अपना जीवन चलायें तो यह इसके लिए बड़े अकल्याणकी बात है। अपना भाव अहिंसामय रखना होगा। सब जीवोंके प्रति सुखकी भावना रखनी होगी। सब जीवोंको अपने समान समझना होगा, ममता हटानी होगी। इस तरह यदि हम अपने मनको पवित्र बना सके तो समझिये कि हमने मनुष्यजन्म पाकर लाभ पाया और जीवनको विषय-कषायोंमें गंवा दिया तो हम मनुष्य हुए न हुए, बराबर हैं। कीड़ा-मकोड़ा हो गए होते तो वही बात थी, आज मनुष्य हो गए तो वही बात है। तो ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर उद्देश्य बनायें अपने कल्याणका। विषय कषाय मोह, इनका उद्देश्य मत बनायें, यही सच्ची प्रभुभक्ति है। यदि प्रभुके बताये हुए मार्गमें चल सके तो हम प्रभुके सच्चे भक्त हैं। सही प्रभुदर्शनसे कभी कष्ट हो नहीं सकता।

(१०७) **निज शरण निजनाथका अन्वेषण**—अपना शरण, अपना नाथ, अपना प्रभु अपने आपमें मौजूद है, लेकिन जिसको अपनी निधिके दर्शन नहीं हो सकते वह जगतमें भटकता है, जन्ममरण करता रहता है। जगतके जीवोंपर ऐसा मोह छाया है कि वे खुद ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मस्वरूप होकर भी अपने आपमें अपनेको रीते तक रहे हैं और बाहरसे

ज्ञान सुखकी आशा लगाये हुए हैं। अपने आत्मापर कुछ दया करके अन्तर्दृष्टि बनायें और इस मोह ममताको एक बार तो हटा लें, फिर देखो कितना प्रशस्त मार्ग बन जायगा। मोह करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। जब पशु-पक्षी हुए तब भी मोह ही तो किया था। अनादिसे लेकर अब तक मोहकी धारा चली जा रही है, लेकिन उसे अभी तक यह जीव मेट न सका। उसमें कुछ यह भी कारण बन गया कि पहिले भवकी बात याद न रही। जिस भव में गया उस भवमें जो जीव मिले, जिनका संग मिला उनसे ही इसने मोह किया, उनको ही अपूर्व समझा, बस मोह बढ़ने लगा।

(१०८) निजनाथकी शरण ग्रहण करनेसे ही लाभ— अरे अब तक कितनोंसे ही मोह किया तो कितनोंका ही वियोग हुआ, कितनी ही तकलीफ मिली, जिन जिनसे भी मोह किया था उनसे कुछ फायदा भी मिला क्या? उल्टा दुःख ही मिला। अब तो अरे निजनाथ, कुछ अपने आपकी सुध तो ले। मैं अपने आपमें वही हूं जैसे कि सिद्ध और अरहंत। फर्क यह आ गया कि वे व्यक्त शुद्ध हो गए, प्रकट हो गए और हम अभी अव्यक्त हैं, अप्रकट हैं। जैसे किसी पाषाणमें कोई मूर्ति बनवानी है, मान लो महावीर स्वामीकी मूर्ति बनवानी है, तो बताओ जो मूर्ति बनवानी है वह मूर्ति उस पाषाणमें पहिलेसे ही मौजूद है कि नहीं? है। अगर मौजूद नहीं है तो हजारों

उपाय कर लिए जायें, पर वह मूर्ति उम पाषाणमें से प्रकट नहीं हो सकती। उस मूर्तिके आवरक जो पाषाण खण्ड हैं उन्हें छेनी हथौड़ीसे अलग कर दिया गया लो मूर्ति ज्योंकी त्यों प्रकट हो गई। तो जैसे कारीगरने उस मूर्तिको कहींसे कुछ ला-लाकर बनाया नहीं, उसने तो सिर्फ उस मूर्तिके आवरण करने वाले पाषाण खण्डोंको हटाया। लो मूर्ति प्रकट हो गई। इसी तरह हम भी जो परमत्मासदृश हैं उसको प्रकट करनेके लिए कहीं बाहरसे कुछ लाना नहीं है, किन्तु उसका आवरण करने वाले जो ये रागद्वेष विषय कषायादिक विकार हैं उनको अलग करना है। हैरानी किस बातकी? अपनेको सुखी शान्त और आनंदस्वरूप अनुभव करें, क्योंकि आनन्दस्वरूप तो मैं हूँ ही। किस बातकी अड़चन, कौनसी बाधा? अरे बाधायें तो हम आपने जान-जानकर बनायी हैं, कल्पनासे बनायी हैं। मेरा पुत्र इस तरह नहीं चलता, अमुक मेरी आज्ञा नहीं मानता...., अरे जगतमें अनन्ते जीव हैं। जैसा मैं जीव हूं वैसे ही वे भी जीव हैं। वे मेरेमें कोई बाधा नहीं डालते। मैं ही कल्पनायें करके उन्हें बाधक मान लेता है। आत्मदर्शन है उसमें वे कोई बाधा नहीं डालते। अरे अपना नाथ, अपना शरण, अपना प्रभु तो अपने आपमें ही मौजूद है। जो अन्तर्दृष्टि करके अपने आपमें अपने परमात्मस्वरूपको निहार लेगा वह निहाल हो जायगा।

(१०९) पाषाणमें हेमकी तरह आत्मामें परमात्मत्व की उपलब्धि—अब सोचें कि कोई ऐसा दृष्टान्त है क्या कि चीज तो मौजूद हो वही और प्रकट न हो और कभी प्रकट हो जाय। तो लो ऐसा दृष्टान्त सुनो—पहिला दृष्टांत तो यह ही है कि स्वर्णकी खान होती है तो वहाँ मिट्टी, पत्थर ही तो नजर आते हैं, स्वर्ण तो नजर नहीं आता, लेकिन स्वर्ण उसमें है अवश्य। वह छिपा हुआ है, उसको विधि द्वारा निकाल लिया जाता है। इसी तरह ताँबेकी खानमें, लोहेकी खानमें भी वहाँ ताँबा, लोहा आदि नहीं दिखता, वहाँ तो मिट्टी पत्थर ही नजर आता है, लेकिन उसको विधि द्वारा उसमें प्रकट कर लिया जाता है। ठीक ऐसे ही अपने आपके इस चेतनमें जो कुछ भी पदार्थ हो उसमें वह परमात्मतत्त्व मौजूद है। ज्ञानानन्दस्वभावी वह शुद्ध चेतन है, पर उसके देखनेकी विधि है। भेदविज्ञान करें और भेदविज्ञान करके जो असार है उसे छोड़ें और जो सार है उसपर दृष्टि दें। बस उस विधिसे उस परमात्मतत्त्वके दर्शन होंगे। कोई रास्ता तो चले नहीं और सोचे कि मैं गाँवमें पहुंच जाऊँ तो कैसे पहुंच सकता है? अरे किसी गाँवमें जाना हो तो उस रास्तेसे चलना ही होगा। और परमात्मस्वरूपके दर्शन करना हो तो उस विधिसे अपना ज्ञान बनाना ही होगा।

(११०) बाह्य पदार्थोंमें न भटककर स्वयंमें ही पर-

मात्मतत्त्वकी प्राप्ति—देखो अपनी ही चीज अपने आपमें है और वह अपनेमें न मिले कभी यह कैसे हो सकता है ? पर देखनेके रास्तेसे चलें तो सही । तो जैसे पाषाणमें स्वर्ण है, पर वह अव्यक्त है, इसी तरह इस शरीरमें आत्मा है और इस आत्मामें परमात्मस्वरूप है, उसको भली प्रकारसे देखेंगे तो उसका परिचय हो जायगा । अब कोई पीछे तो दृष्टि लगाये और आगेकी चीज समझना चाहे या कहीं दृष्टि लगाये और कहींकी बात समझना चाहे तो यह कैसे हो सकता है ? आपको अपना आत्मा समझना है तो आत्माको ही देखना होगा । परपदार्थोंकी उपेक्षा करें । अगर जीवनमें इसकी पहिचान पायी हो कि जगतकी दिखने वाली सारी मायामय चीजें असार हैं । किसीसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं । जो आपको भले जँच रहे हैं, प्रिय जँच रहे हैं, स्त्री-पुत्रादिक उनका वियोग नियमसे होगा, और वियोग होनेपर क्लेश मानेंगे । वह वियोग भी क्या चीज है ? माननेका वियोग, संसारमें अनेक जीव हैं, अनेक पदार्थ हैं, अपने स्वरूपसे हैं कहीं संयोग हो गया तो, न रहा संयोग तो, ऐसी बाहरी स्थितियाँ, दशायें जानकर थोड़ा विश्राम तो करें । मुझे मोह नहीं करना, मुझे परवस्तुओंका ख्याल नहीं करना, इन बाहरी चीजोंमें उपयोग फसनेसे मुझे क्लेश हुआ है । मुझे चाहिए सम्यक्त्व । संसारका यह आताप जो महाकठोर है, भव-भवमें दुःख उत्पन्न करने वाला है यह तो

नहीं सहा जाता। अब मुझे भव आताप न चाहिए। मुझे तो सम्यक्त्व अमृत चाहिए, उस ओर दृष्टि तो दें। अपने जीवन को मोड़ें, मोह मोहमें क्या मिलेगा। उस रास्तेमें तो पशु-पक्षी आदिक सभी जीव चल रहे हैं, उनकी तरह जीवन बितानेमें क्या तत्त्व मिलेगा ? आवो अपनी ओर आयें, अपनेमें अन्तः प्रकाशमान भगवत्स्वरूपके दर्शन करें और जीवनको सफल करें। यह मैं आत्मा शरीरमें इस तरह हूँ जैसा कि पाषाणमें स्वर्ण और आत्मामें परमात्मा। यह मैं अन्तःस्वरूपके ज्ञानसे ही अनुभवा जा सकता हूँ।

(१११) दूधमें घृतकी तरह आत्मामें परमात्मत्वकी उपलब्धि—अब दूसरा दृष्टान्त लीजिए। दूधमें घी रहता है कि नहीं ? जो दूध अभी दुहा गया, मानो ५ किलो दूध दुहा गया तो बताओ उसमें घी है कि नहीं ? अगर न हो तो किसी भी तरह वहाँसे घी निकाला नहीं जा सकता। मगर घी वहाँ आँखों दिखता तो नहीं। और दूधमें घी अवश्य है तो आपने उसे किस तरह जाना ? एक ज्ञानद्वारा जाना कि उस दूधमें घी है। और यह भी परख लेते हैं कि इस दूधमें करीब ५ छटाक घी निकलेगा, इसमें करीब ७ छटांक घी निकलेगा····। तो यह निश्चित है कि दूधमें घी है, मगर व्यक्त नहीं है। उसे प्रकट करनेकी विधि यह है कि उसको मथो या दही बनाकर मथो। यह विधि है, इसी तरह इस मेरे शरीरमें आत्मा

है और आत्मामें परमात्मस्वरूपको प्रकट करना चाहे तो उसकी विधि है कि हम अपने आत्माको ज्ञानद्वारा मथें, उसमें प्रवेश करें। ये बाह्य पदार्थ मेरे लिए अनर्थ हैं। मेरे लिए दुःखके हेतुभूत हैं। मेरा आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, वही मेरा सर्वस्व है, अपने आत्मामें तृप्ति करें, संतोष करें, अपनेमें ही रम रहें, देखो कैसे नहीं परमात्मस्वरूपका दर्शन होगा ? तो जैसे दूधमें घी है, किन्तु वह अव्यक्त है, पर उसे विधिपूर्वक प्रकट करें तो प्रकट हो सकता है, उसी प्रकार मेरे आत्मामें वह परमात्मस्वरूप है जिसकी वन्दना करनेके लिए हम सुबह-सुबह मन्दिरमें आते हैं पूजा करते हैं, दर्शन करते हैं वह स्वरूप मेरे आत्मामें है। उस आत्मामें उस स्वरूपको देखनेकी विधि है—भेदविज्ञान करें, असारको छोड़ें, सारपर दृष्टि लगावें तो जैसे विधिविधानसे दूधमें घी प्रकट होता है उसी प्रकार विधिविधानसे मेरे आत्मामें वह भगवत्स्वरूप प्रकट होता है।

(११२) **तिलमें तैलकी तरह आत्मामें परमात्मत्वकी उपलब्धि**—अब तीसरा दृष्टान्त लीजिए। तिलमें तैल है कि नहीं ? है, पर वह यों दिखता तो नहीं, उसके टुकड़े कर देने पर भी तैल निकलता तो नहीं, पर उस तिलको विधिपूर्वक मशीनमें पेलकर तैल निकाल लेते हैं। यदि तिलमें तैल न हो तो अनेक प्रयत्न करके भी उनसे तैल नहीं निकाला

जा सकता। देखिये—रेत (बालू) में तैल तो नहीं है। तो उसे कोई पेले तो क्या तैल प्रकट हो सकेगा ? नहीं प्रकट होगा। तिलमें तैल है तो वह निकल आता है। क्या तिलमें तैल इस तरह भरा है जैसे छोटी शीशीमें तैल भरा हो। अरे तिलके दानोंमें रग-रगमें तैल बसा हुआ है, वह दिखता तो नहीं है। पर घानीमें पेलनेसे तैल निकल आता है। इसी तरह समझिये कि आत्मामें वह परमात्मस्वरूप है, जिसे हम कहते हैं निर्दोष, वीतराग, गुणोंसे पूरा सर्वज्ञ, ज्ञानज्योतिर्मय अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति इन इन वैभवों से सम्पन्न जिस परमात्माका हम स्मरण करते हैं वह परमात्मस्वरूप मेरेमें बसा है, अब थोड़ी यह तुलना कर लो कि हम अपने भीतर बसे हुए परमात्मस्वरूपको देखें, वहीं रत रहें, उसकी चर्चा सुनें तो उसका आनन्द कैसा ? और स्त्री, पुत्र, मित्रादिक, धन-वैभव आदिकमें चित्त रमायें, उसे ही सर्वस्व जानें, उसीकी श्रद्धा करें तो उसका आनन्द कैसा ? जहाँ बाह्य वस्तुमें अपना उपयोग गया वहां यह अशरण बन गया, इसको विडम्बना बन गई, विपदा छा गई। इतनेसे ही अनुमान कर लो कि बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्तियोंने छह खण्डके वैभवको त्यागकर जो एक आत्मामें ही तृप्त रहनेका प्रोग्राम बनाया तो उसमें कुछ तथ्य तो होगा। इससे ही अनुमान कर लीजिए और अपने अनुभवसे भी अनुमान कर लीजिए। देखो—अपने

आपकी दया होगी, अपने आपका आपको ज्ञान बन जायगा सो एक बार भी अपने भीतर बसे हुए ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मा पर दृष्टि जायगी तो उसकी पहिचान है कि उसे बाह्यपदार्थों में मोह नहीं रहता। उसे ऐसा दिखना है कि ये बाह्य पदार्थ मेरा कुछ भी पूरा न पाड़ देंगे। भीतरमें यदि इस प्रकारकी दृष्टि बनी हो तो समझो कि हमने तत्त्व पाया। जैसे तिलमें तैल मौजूद है उसी प्रकार इस आत्मामें परमात्मस्वरूप विराजमान है। उसे निरखिये—जैसे धानके छिलकेके भीतर चावल है इसी तरह इस देह छिलकेके भीतर वह आत्मस्वरूप है वहाँ दृष्टि दें, आँखोंसे नहीं, इन्द्रियोंसे नहीं किन्तु ज्ञानसे। जिस ज्ञानसे समझ बनती है उसको ही अपने भीतर ले जावें, बाहर की बातोंको छोड़ दें, बाहरका ख्याल बनाये रहें और भीतरमें परमात्मस्वरूपके दर्शन चाहें तो यह बात नहीं बन सकती। कोई अधिक जानकार न भी हो आत्माकी महिमाका, वैभवका किन्तु वह केवल इतना काम कर ले कि ये बाहरी बातें सब सारहीन हैं सो मैं एक भी बाहरी बातको अपने चित्तमें न रखूंगा। विश्रामसहित गुप्त ही गुप्त ठहर जाऊँगा। यदि ऐसा यत्न करे तो वह अपने आत्माके वैभवको निरख सकता।

(११३) काष्ठमें अग्निकी भांति आत्मामें परमात्मत्व की उपलब्धि—चौथा दृष्टान्त लीजिए— सुना होगा और देखा भी होगा कि जंगलमें बाँसोंके परस्पर रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न

हो जाती है तो वह अग्नि कहांसे उत्पन्न हुई ? उन बांसोंसे। बाहरसे लाकर अग्नि नहीं डाली गई, किन्तु वे बांस परस्परमें रगड़ गए और वहां प्रकट हो गई। अब बताइये वह आग उन बांसोंमें पहिले थी कि नहीं ?···शक्तिरूपमें थी तब ही तो वह प्रकट हुई। इसी तरह अपने आत्मामें शक्तिरूपसे परमात्मतत्त्व है तब वह प्रकट होता है। तो इस प्रकार अपने आपमें विराजमान परमात्मस्वरूपके दर्शन करना, अनुभव करना बस यही तो सम्यक्त्व है। सच्ची दृष्टि जगनेसे, सच्चा ज्ञान बन जाता। देखो जैसे देहमें आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है कि मैं मनुष्य हूं, मैं इतना तगड़ा हूं, मैं इतना लम्बा-चौड़ा हूं, मैं ऐसे रूप वाला हूं। तो जैसे देहमें आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है, अज्ञान है उसी प्रकार मैं अमुक जातिका हूं, मैं अमुक सम्प्रदायका हूं, अमुक गोत्रका हूं, ऐसी श्रद्धा करना यह भी दृष्टि मिथ्या है। और मैं कैसा धर्म पाल रहा हूं, मैं कैसा सद्गृहस्थ हूं, मैं ऐसा मुनिव्रत पाल रहा हूं, मैं मुनि हूं, मैं गृहस्थ हूं, मैं त्यागी हूं, इस तरहकी भीतरमें यदि श्रद्धा बनी हो तो वह भी दृष्टि मिथ्या है। तत्त्व तो जैसा सहज है वैसी श्रद्धा हो तो दृष्टि सही है। मैं आत्मा केवल चैतन्यमूर्ति हूं, मनुष्य नहीं हूं, किसी जातिका नहीं हूं, किसी लौकिक पोजीशनका नहीं हूं, मैं अमुक गांवका नहीं हूं, अमुकका पिता या

पुत्र नहीं हूं। मैं तो एक चैतन्यमूर्ति तत्त्व हूं। जो स्वरूप सब जीवोंमें एक समान है, इस तरह जो अन्तः बसे हुए स्वरूपको पा लेगा उसके परम आनन्द प्रकट होगा। आनन्द ही तो चाहिए, तो आनन्दका कारण तो ज्ञान है, उस ज्ञानमें बढ़ो।

(११४) आत्मज्ञानकी स्वाधीनता— देखिये—ज्ञान की वृद्धि कर लेना आपके हाथकी बात है और धन-वैभवको बढ़ा लेनेकी बात अपने हाथकी नहीं हैं। भले ही लोग उल्टा मान रहे हैं कि वाह धन-वैभवका कमाना, व्यापार रोजिगार का कर लेना यह तो हमारे हाथकी बात है, पर ज्ञान उत्पन्न कर लेना अपने हाथकी बात नहीं, इस प्रकारकी एक उल्टी बुद्धि बना ली है। अरे यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हूं, तब ही तो मैं अपने ज्ञानको मोड़ूंगा, अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर ले जाऊँगा, तब ही मेरा ज्ञान प्रकट हो जायगा। कितना सुगम समीचीन है, कहीं जाना नहीं, कहीं कुछ बाहरमें उद्यम करना नहीं, अपने आप सुगमतया अपनेमें ही अपनेको मिल जायगा। आज चूंकि पुण्यका कुछ उदय है इसलिए कह रहे कि धन-वैभव कमा लेना तो मेरे वशकी बात है, मेरे हाथकी बात है, पर ऐसा उनका सोचना गलत है। अरे वह तो पूर्वकृत कर्म का फल है। जैसा उदय है वैसा आता है। यदि उदय अनुकूल न हो और कितना ही कुछ परिश्रम कर लो, कहांसे धन वैभव आ जायगा? लेकिन साहस ऐसा बनायें कि धन-

वैभव आये अथवा न आये, वह तो मेरेसे छूआ हुआ नहीं है, भिन्न है, उससे मेरा कुछ भी प्रयोजन न बनेगा, क्योंकि आत्मा का ज्ञान हो, आत्माकी दृष्टि हो, अपने स्वरूपको समझ जाऊँ, मेरा भला हो जायगा। इन बाहरी बातोंसे मेरा कुछ भी भला नहीं होनेका। और देखो जीवनकी विडम्बनायें—कुटुम्ब हो, मित्र हो, किसीसे बराबर प्रीति करते आये, १०-२०-५० वर्ष हो गए, फिर भी यदि कोई वैसी घटना घट गई तो वे ही स्नेही एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। तो प्रीति की जाने लायक यहाँ कोई चीज नहीं है। प्रीति करनेका फल अन्तमें दुःख ही मिलता है। जो लोग अपने जीवनमें ऐसा विश्वास लादे हैं कि ये पुत्र, मित्र, कुटुम्ब मेरे हैं, ये बड़े आज्ञाकारी हैं, इनसे हमें सुख है, ये सदा रहेंगे, मरते तो औरोंके घरके लोग हैं, ये मेरे कहाँ जायेंगे ?....जो ऐसा विश्वास लादे हैं उनको ऐसा कठिन समय प्राप्त होगा कि जिससे प्रीति की है उससे कई गुना दुःख भोगना पड़ेगा। सारी जिन्दगी तो प्रीति किया और एक दिन हो जाय वियोग होनेपर सक्लेश, तो उस संक्लेशमें बहुत बड़ा कर्मबन्ध ही होता है। आपने आज जो भी समागम पाये हैं उनसे अभी तक आपको कुछ लाभ भी मिला क्या ? अरे वर्तमानमें ही अपने आत्माका देखो—विकल्प जाल कर रहा और विकल्पजालमें यह रीताका रीता रहा। भरपूर तो तब बने जब अपने ज्ञानमें अपना ज्ञानस्वरूप समाया हो। बड़ा

विकास, बड़ी शान्ति, बड़ा आनन्द। भरपूर आत्मा वह कहलाता है जिसको अपने आपकी दृष्टि बनी हो।

(११५) परमात्मस्वरूप आत्माको निरखनेकी विधि भेदविज्ञान—भैया, यह आत्मा परमात्मस्वरूप है। उसको निरखनेकी विधि भेदविज्ञान है। वस्तुओंके स्वरूपको जानें कि कौन पदार्थ कैसा है? शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ। शरीरके रूप रंग है, मुझमें रूप रग नहीं, शरीर इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें आता है। मैं आत्मा इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें नहीं आता। देखो—अलौकिक पदार्थ है आत्मा, इसको यों मना नहीं किया जा सकता कि मैं कुछ नहीं हूं। अगर कोई मना करे कि मैं आत्मा नहीं हूं तो जिसने ऐसा जाना वह ही तो आत्मा है। और जो न जाननेकी बात कहे सो आत्मा, जो जाननेकी बात समझे सो आत्मा। कुछ तो समझा है। ऐसी जानकारी, ऐसी समझ किन्हीं जड़ पदार्थोंमें तो नहीं हुआ करती। तो भाई अपने आत्माका बाध बनायें, यह ही सम्यक्त्व है और आपका, जीवमात्रका कल्याण कर सकने वाला यह सम्यक्त्व भाव है, उससे प्रीति बनावें और उसके मुकाबलेमें तन, मन, धन, वचनके जो भी समागम मिले हैं उन्हें तुच्छ समझें। ये सबके सब भी बलिदान कर डालें और एक अपने आत्माकी सच्ची समझ जागृत हो तो उसने सब कुछ पा लिया।

(११६) प्रभुदर्शनमें आत्मदर्शनका प्रयोजन—मेरे

आत्मामें वह भगवत्स्वरूप है जिसकी वन्दना करनेके लिए मंदिरमें आते हैं, पूजन करते हैं, ध्यान करते हैं, वह मेरेमें ही है। दर्शन करके वहाँ ख्याल बनाया जाता है, पर अपने आपके परमात्मस्वरूपकी जिन्हें सुध नहीं वे मन्दिरमें भी क्या पा लेंगे? तीर्थस्थानमें भी क्या पा लेंगे? वे कहीं भी क्या पा लेंगे? अपने आपका बोध हुए बिना धर्मपालन नाम किसका है? तो जानें अपने आपमें अपना स्वरूप। और उसीमें तृप्त रहनेकी आदत बनावें। रात-दिनके २४ घंटेमें कोई २-४-५ मिनटको भी कभी इसकी सुध आये और कभी अपनेको सबसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव कर सके यह जीव, तो इसकी महिमाका कोई वर्णन नहीं कर सकता। हमको यह चाहिए कि हम आत्मज्ञानके लिए अपनी सारी कोशिश बनायें। लोग ऐसा सोचते हैं कि कहीं थोड़ेसे लड़के पढ़ते हैं, लाभ कुछ नहीं, खर्चा इतना बड़ा हो रहा है, तो उनका यह सोचना ठीक नहीं। अरे बहुत-बहुत खर्च करके भी अगर एकने विद्या हासिल की तो वहाँ तो कुछ नम्बर भी आया कि फायदा पाया, मगर बाह्य कामोंमें कुछ भी कर लिया, कुछ भी खर्च कर लिया तो उसमें तो कोई नम्बर ही नहीं आ सकता। तब फिर बाह्य कामोंमें इतना-इतना खर्च करनेसे फायदा क्या?

(११७) ज्ञानप्रकाशकी अनुपमता—ज्ञान और आनंद दोनोंकी तुलना तो करो अगर आपको इसमें कल्याण जचता

हो कि मेरे आत्माका ज्ञान बने, इसीमें शान्ति है, आनन्द है, कर्मकलंक कटते हैं, जन्ममरणका संकट छूटता है तो ज्ञानमार्ग में लगो। और धनमें अगर सर्वसुख जँचता है तो ठीक है, फिर तो खूब आकुलताओंमें पड़ते रहो। धनसे कहीं सुख तो मिलता नहीं, पर कल्पनासे मानते हो तो मानते रहो। अरे धन थोड़ा है तो दुःख, अधिक है तो दुःख। धनकी तो ऐसी बात है। जब तक अज्ञान छाया है। क्या किसी भी धनिकको आप सुखी बता सकेंगे, जो कि खूब अज्ञानमें बसा है। बाहर से दिखता है कि यह सेठ तो बड़े आनन्दमें है, इतनी कारें हैं, इतना बड़ा काम है...., लेकिन उसकी आत्मापर दृष्टि दो, कुछ ख्याल तो करो, उसे कितनी आकुलतायें हैं, कितने शल्य हैं, कितनी चिन्तायें बसी हैं। वह निरन्तर किसी न किसी बातकी चिन्ता करके दुःखी रहा करता है, और एक ज्ञानवान को देख लो जिसको अपने आत्माके ज्ञानसे ही सन्तोष हो रहा है, तृप्त हो रहा है जैसे अरहंत और सिद्ध भगवान, ये तो अपने ज्ञानमें ही तृप्त हैं, आनन्दित हैं, शुद्ध हैं, अपने स्वरूपमें हैं, वे पूर्ण रूपसे हैं, मगर यहाँ कोई थोड़े रूपमें ही गया हो, जो अपने आत्माके ज्ञानमें तृप्त हो रहा हो उसके भी आनन्दको देख लो—वह कैसा आनन्द पाता है।

(११८) ज्ञान तथा लौकिक वस्तुओंकी तुलनामें ज्ञान की ही श्रेष्ठता—तो भाई ज्ञान और दुनियाके वैभव, इनको

सही तुलना बना लो और निर्णय कर लो कि मेरे लिए लाभ देने वाला है तो ज्ञान है, यह वैभव नहीं। ऐसा निर्णय बनाकर अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभवनेके लिए दो उपाय बनाये रहें—सत्संग और स्वाध्याय। ज्ञानमें बड़ी योग्यता है सबके, जितने मनुष्य हैं सभीमें योग्यता है। अगर योग्यता न होती तो इतने बड़े व्यापार कैसे कर लेते ? तो इतनी बड़ी योग्यता कि ज्ञानसे हम अपने आत्माका ज्ञान करना चाहें तो क्या कर न सकेंगे ? बस अब मनमें आनेभरकी बात है। चित्त ऐसा बना लें कि मुझे आत्माका परिचय करना है और इस आत्मज्ञानसे ही संतोष करना है, बाहरकी जो बातें हैं उनपर मेरा अधिकार नहीं, वे पुण्य पापकर्मके अनुसार होती हैं। जैसा उदयमें है वैसा हो गया। कोई कैसा ही रह सके रहे, उसका दु:ख, उसका फल मैं नहीं अनुभव कर सकता, तो अपनेको परमात्मस्वरूपके समान शाश्वत आनन्दमय ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव करनेमें अपना समय बिताना है, यदि ऐसी अन्तः प्राप्त निधिका दर्शन करें तो हम वास्तविक अमीर हैं, अन्यथा करोड़ोंका वैभव भी पा लिया तो भी गरीब हैं। तो वास्तविक अमीरी है सम्यग्दर्शन प्राप्त होना। उसके लिए सर्वस्व अर्पित करके भी पौरुष करें जिसमें सम्यक्त्व प्राप्त हो।

॥ इति परमानन्दस्तोत्र प्रवचन समाप्त ॥